भूमिका

वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम् ।
अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम् ॥
एवमेकाक्षरं ब्रह्म यतयः शुद्धचेतसः ।
ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाम्बुराशयः ॥

(श्रीदेव्यथर्वशीर्षम्)

हमारे देश की प्राचीन भाषा संस्कृत रही है। एक समय था जब संस्कृत केवल वेद, पुराणों, उपनिषदों आदि तक सीमित नहीं थी, बल्कि यह बोली के रूप में भी जनमानस में जानी जाती थी। संस्कृत-साहित्य जितना समृद्ध है, दुनिया का कोई भी साहित्य उतना समृद्ध नहीं है। एक बात और है; किसी भी पक्ष को बिना किसी हिचक के साथ संस्कृत-साहित्य में खुले रूप से प्रकट किया गया है। यह तभी सम्भव होता है जब कोई भी देश पूरी तरह से समृद्ध हो और वहाँ की जनता सुखी हो। इसी का परिणाम रहा है कि खजुराहो, कोणार्क, पुरी से लेकर सभी विख्यात मन्दिरों में रंगमण्डप रहे हैं। ये रंगमंडप विलासिता का नहीं बल्कि वैभव और समृद्धि का परिचय देते हैं।

संस्कृत-साहित्य में ही तन्त्र-मन्त्र और इसके कई अंग-उपांग व्यापक रूप से लिखे गये हैं। ऋग्वेद जैसे वेद की हर ऋचा अपने-आप में एक ऊर्जस्वी मन्त्र है। तन्त्रशास्त्रों की रचना भी यहीं की देन है। तन्त्र-मन्त्र में अपार क्षमता है, यह सर्वविदित और स्वयंसिद्ध है। कुछ तत्त्वों ने इसका दुरुपयोग किया है, यह दूसरी बात है। लेकिन दुरुपयोग के कारण इस साहित्य की समृद्धता से नकारा नहीं जा सकता। तन्त्र और मन्त्र ने मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण इत्यादि से लेकर जीवन के समरस और सुखद पक्ष तक का प्रतिनिधित्व किया है। सम्भवतः यही परम्परा है जिसने हमें तन्त्र और मन्त्र की व्यापकता की ओर आकर्षित किया है।

तन्त्र शब्द तन् धातु से बना है। अतः तन्त्र का विकास अर्थ में प्रयोग किया जाता है। तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति काशिका-वृत्ति में 'तनु विस्तारे' धातु से बतलाई गई है। 'सार्वधातुभ्यः ष्टन्' सूत्र से ष्टन् प्रत्यय के योग से तन्त्र शब्द का निर्माण हुआ है। 'तन्यते विस्तारयेत् ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्' के अनुसार किसी भी ज्ञान को जो विस्तार प्रदान करता है, उसका सांगोपांग विवरण देता है, उसे तन्त्र कहते हैं। सरल शब्दों में जिस साधना द्वारा हमारे ज्ञान का विकास हो, वह शास्त्र तन्त्र है।

जिस शास्त्र में स्वल्प शब्दों में प्रचुर अर्थों की उपलब्धि हो तथा तत्त्व मीमांसा और मन्त्र विज्ञान की सामग्री से परिपूर्ण हो, उसके अनुष्ठान से साधक

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तापत्रय से परिमुक्त हो जाय, उस साधना को तन्त्र कहा जाता है। यह एक साधनापरक धर्मपद्धति है, किन्तु धर्म की अपेक्षा यह विशाल अधिक है।

तन्त्र का दूसरा नाम आगम है। जिस साधना के द्वारा परिच्छिन्न नाम-रूप क्रिया उपाधियों से आवृत शक्तिचेतना को परमेश्वरी पराशक्ति के सत्य-रूप का तादात्म्य रूप से अभेद बोध हो, वह तन्त्र है। शाक्ततन्त्र के अनुसार पराशक्ति ही नाम, रूप और क्रियाओं के द्वारा जीव, जगत् और परमतत्त्व है। भोक्ता, भोग्य और भोगसाधन, द्रष्टा, दृश्य और दृक्ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय अथवा कर्ता, क्रिया और कारण है। आगम, तन्त्र और यामल - ये तीनों शब्द पारिभाषिक परस्पर स्वसम्मत अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

आगम

आगम पंचमुख शिव के अघोर मुख से निकलकर माँ पराम्बा जगज्जननी महामाया भगवती के श्रवणपुटों के माध्यम से हृदयकमल में टिक गया है। इसके बाद भैरव और नन्दी गुण, तन्त्र के प्रथम साधक हैं। दस महाविद्याएँ तन्त्र की विकसित प्रकाश शक्ति हैं।

अन्य व्याख्या के अनुसार पटल, पद्धति, कवच, नामसहस्र और स्तोत्र — इन पाँचों अङ्गों की साधना को तन्त्र कहते हैं। 'वाराही तन्त्र' में तन्त्र शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिस शास्त्र में सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधना, पुरश्चरण, षट्कर्म, शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, मारणसाधन और ध्यानयोग सहित सातों अवयव परिपुष्ट हों, उसे तन्त्र कहते हैं। अतः धर्म-साधन में जिन नयी पूजाओं, मन्त्रपद्धतियों, देवीचेतनाओं, अनुष्ठानों, यन्त्रों, योगसाधनाओं आदि का प्रवेश हो रहा था, उन्हें पूर्ण रूप से एक ज्ञान या चिन्तन पद्धति के भीतर समन्वित कर एक नियम या अनुशासन में सुनियोजित कर देनेवाली प्रणाली का नाम तन्त्र पड़ गया। तन्त्र शब्द केवल आध्यात्मिक साधना में ही नहीं प्रयुक्त होता है, बल्कि व्यावहारिक जीवन में तन्त्र शब्द का प्रयोग एक सौन्दर्यमय, सरलतम वैज्ञानिक व्यवस्था के लिए होता है। यथा — न्यायतन्त्र, चिकित्सातन्त्र, गणतन्त्र प्रभृति।

तान्त्रिक परम्परा

भारतीय वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि अथर्ववेद में मारण, मोहन, उच्चाटन, मन्त्र, रक्षा, सिद्धि और गुह्यसाधनाओं का प्रचुर उल्लेख मिलता है। उस समय भी वेदत्रयी की गणना में अथर्ववेद को इस परम्परा में नहीं गिना जाता था।. संभवतः अथर्ववेद की गुह्यसाधना ने बहुत आगे चलकर व्रात्य का स्वरूप ग्रहण किया है।

इस सन्दर्भ में अनेक तथ्यों के परिशीलन-विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि भारत में तन्त्रसाधना का उदय सुदूर अतीत में हुआ था।

इसकी प्रतिष्ठापना अन्धविश्वास की अपेक्षा अध्यात्म-विज्ञान के सुनिश्चित तथ्यों के आधार पर हुई है।

'त्रिपुरारहस्यम्' इसी तान्त्रिक साहित्य का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। यद्यपि 'तन्त्र-साहित्य' का क्षेत्र विशाल है, फिर भी सामान्यतया इसे तीन खण्डों में विभक्त किया गया है। ये खण्ड हैं—शैव, शाक्त और वैष्णव। गाणपत्य प्रभृति तन्त्रशास्त्र के अन्य रूप इसी में समाहित हैं। अन्य साधनाओं की अपेक्षा इसकी विशिष्टता यह है कि आध्यात्मिक उपलब्धि के साथ यह भौतिक ऐश्वर्य भी प्रदान करती है। तांत्रिक सिद्धान्त के अनुसार कोई भी प्राणी जब तक अष्टपाश से विमुक्त नहीं होता तब तक उसे शिवत्व की प्राप्ति नहीं होती। ये अष्टबन्धन साधक के हैं—नफरत, शर्म या हया, डर, शक, निन्दा या बुराई, अपने खानदान पर घमण्ड, मिजाज और जाति—जब तक ये आठ बातें जीव को घेरे रहेंगी तब तक उन्हें जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति नहीं है। इन आठों से मुक्त होना ही शिवत्व को पाना है—

> "घृणा, लज्जा, भयं, शङ्का जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
> कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः।
> पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः॥"

तान्त्रिक साधनाओं के आम्नाय के अनुसार इनके कई भेद और प्रभेद पाये जाते हैं। स्थूल रूप से ये आचार दो खण्डों में विभक्त हैं। दक्षिण और वाम।

दक्षिणाचार

दक्षिणाचार एक प्रकार की आराधना-साधना का सात्त्विक मार्ग है। प्रातः-सन्ध्या, मध्याह्न जप, साधना-प्रक्रिया में कम्बलासन या ऊन के आसन का प्रयोग करना विहित बतलाया गया है। साधनाकाल में दूध या शर्करा पान विहित है। रुद्राक्ष की माला धारण करना विहित है। साधना-प्रक्रिया में अपनी पत्नी के साथ सहवास विहित बतलाया गया है। इनके अतिरिक्त कई अन्य विहित कर्म बतलाये गये हैं।

वामाचार

दक्षिणाचार से वामाचार बिलकुल प्रतिकूल था। इसमें मरे हुए आदमी के दाँत की माला, नरखोपड़ी का पात्र, कच्ची, छोटी मछलियों का चबाना, मांसभक्षण और सभी जातियों की पर-स्त्री में समान रूप से मैथुन—यह वामाचार था। वामाचार में पाँच मकारों का विधान है। इन पाँच मकारों के आधार पर भैरवीचक्र की नियोजना होती थी। इन चक्रों में स्त्री-साधिकाएँ तथा साधक मिलते थे। मद्यपान के उपरान्त मनोरथ सुखों की परस्पर पूर्ति होती थी। इस प्रकार के चक्रों में वर्ण और जाति का कोई भेद नहीं रहता

था । भैरवीचक्र में सब उच्च वर्ग के हो जाते हैं—"प्राप्ते तु भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजोत्तमाः" ।

कुछ लोग तन्त्रशास्त्र की दृष्टि से शक्तिसाधना के तीन भेद मानते हैं । प्रथम दक्षिणी मार्ग, दूसरा मिश्र मार्ग और तीसरा वाममार्ग । इसे ही कौलाचार भी कहा जाता है । इनमें दक्षिण मार्ग की साधना तो सर्वोत्कृष्ट मानी गयी ही है । वाममार्ग को भी उत्तम मार्ग ही कहा गया है । यह साधना शीघ्र फलदायिनी मानी गई है । किन्तु इस साधना में पञ्चमकार-साधना की दुहाई देकर इसे काफी घटिया साधना करार दिया गया, जब कि यह साधना दक्षिण मार्ग से उत्कृट, शीघ्र और स्थायी फल देनेवाली है ।

प्राचीन भारतीय वाममार्गीय पद्धति में बहुचर्चित पञ्चमकारों की चर्चा आती है और इन आध्यात्मिक प्रकारों की चर्चा में कहा गया है—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन—ये पाँच प्रकार ही योगियों को मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं ।

कुछ समालोचकों की दृष्टि में वामाचार तन्त्रों की भाषा सांकेतिक है । इसके संकेत को बिना समझे, इसके रहस्य को अनदेखी कर भोगलिप्सुओं ने अपने मानसिक स्तर के अनुरूप ही इस साधना को समझा और प्रचार किया । इसी के कारण इसके प्रति जनमानस में उपेक्षा का भाव पैदा हुआ । वास्तव में वामाचार बड़े ही उच्च स्तर की साधना है । ऐसे समीक्षकों की दृष्टि में इन आध्यात्मिक पञ्चमकारों के कुछ और ही सांकेतिक अर्थ हैं ।

मद्य (मदिरा)

कुलार्णवतन्त्र में नारियल के पानी और दूध को मद्य कहा गया है । योगिनीतन्त्र में अलग-अलग वर्णों के लिए अलग-अलग मदिरापान का विधान है । जैसे अदरख के रस को गुड़ में मिलाकर जो आपानक तैयार होगा वह ब्राह्मणों के लिए सुरा है । काँसे के बरतन में नारियल का पानी क्षत्रियों के लिए सुरा है तथा काँसे के पात्र में मधुपान वैश्यों के लिए सुरा है । साधना के क्षेत्र में ऐसे ही सांकेतित अर्थ अभीप्सित हैं ।

मांस

योगिनीतन्त्र में ही मांस और मत्स्य को लवण और अदरख का रस कहा गया है । यहाँ ही मांस का अनुकल्प माना गया है—लवण, अदरख, लहसुन, कालातिल और गेहूँ की बाली । कुलार्णवतन्त्र में भी कहा गया है कि पूजा और साधना में मांस की जगह लवण, अदरख, लहसुन और गेहूँ की बालें लेनी चाहिए । मांसाहार का प्रतीकात्मक स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रों में कहा गया है—'मां' शब्द रसनाप्रिय वस्तुओं का द्योतक है अर्थात् जो जीभ की प्रिय वस्तुओं का परित्याग कर अधिक-से-अधिक मौन साधता है, वही 'मांस'साधक कहलाता है ।

मत्स्य

तन्त्र-ग्रन्थों में लाल मूली और बैगन को मत्स्य कहा गया है। कुलार्णव-तन्त्र में भी जहाँ मत्स्य का विधान है वहाँ बैगन, मूली, सिंघाड़ा और कसेरु आदि की चर्चा आयी है। मन मार कर, इन्द्रियों को वशवर्त्ती बनाकर आत्म-लीन होनेवाले जीवों को भी 'मीनाशी' ही कहा गया है। मत्स्यसाधक की यहाँ यही परिभाषा होनी चाहिए।

मुद्रा

मुद्रा का दिव्य रूप है—बुराइयों को जीतकर अच्छाइयों की स्थापना। ज्ञान की ज्योति से अपने अन्तःकरण को जगाने वाला साधक ही शब्द के सच्चे अर्थ में मुद्रासाधक है।

मैथुन

भैरव्यामल तन्त्र के अनुसार—परमानन्द को प्राप्त हुई सूक्ष्म रूप वाली जो सुषुम्ना नाड़ी है, वही आलिङ्गन करने योग्य सेवनीय कान्ता है। सुषुम्ना नाड़ी के सहस्रारचक्र में प्रवेश ही मैथुन है और कुछ नहीं। यह कुण्डलिनी-जागरण की प्रथम प्रारम्भिक प्रक्रिया है।

आगमसार में तान्त्रिक साधनाओं को खड्गधार या सूक्ष्म पथ बतलाया गया है। अतः तन्त्रमीमांसा समझने के लिए शक्ति और शक्तिमान् को समझना भी उतना ही आवश्यक है, क्योंकि 'त्रिपुरारहस्य' की पृष्ठभूमि भी यही शक्ति और शक्तिमान् है।

शक्ति और शक्तिमान्

शक्ति और शक्तिमान् में ही परमतत्त्व है। परमतत्त्व निर्गुण, निर्विकल्प, निरवेद्य, ज्योतिर्मय, अद्वय, सच्चिदानन्दस्वरूप, निष्फल, निर्विशेष और निरञ्जन है। नाम, रूप, क्रिया और बुद्धि से अगम्य, संविदास्वरूप है। निर्विकल्प, निष्प्रपंच परमतत्त्व की अभिव्यक्ति का मुख्य साधन स्वयं संवेद्यता है, क्योंकि यह स्वयं प्रकाश है। मन और बुद्धि के द्वारा अगोचर होते हुए भी वह बुद्धिगम्य है। उसी परमतत्त्व के दो रूप अभिव्यक्त होकर शक्ति और शक्तिमान् के रूप में प्रकट होते हैं।

श्रुतियों ने कहा है कि 'तदैच्छत् बहु स्यामः प्रजायेयाः' तथा—'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'। उस परमतत्त्व ने इच्छा की कि मैं बहुत रूपों में अभिव्यक्त हो जाऊँ या पहले की तरह सृष्टि करूँ। जो निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष है, उसमें इच्छा कैसे सम्भव है? इच्छा उसकी क्रिया नहीं है, उसकी शाश्वत शक्ति है। जिस तरह से सूर्य एवं उसकी रश्मियाँ, चन्द्र और चन्द्रिका, आग और उसका प्रकाश, दाहकता अभेद होते हुए भी भिन्न है; उसी तरह शक्ति और शक्तिमान् का भेदाभेद है। नैयायिकों ने सिद्ध किया है कि सब द्रव्य

था। भैरवीचक्र में सब उच्च वर्ग के ही आते हैं—"प्राप्ते तु भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजोत्तमाः"।

कुछ लोग तन्त्रशास्त्र की दृष्टि से शक्तिसाधना के तीन भेद मानते हैं। प्रथम दक्षिणी मार्ग, दूसरा मिश्र मार्ग और तीसरा वाममार्ग। इसे ही कौलाचार भी कहा जाता है। इनमें दक्षिण मार्ग की साधना तो सर्वोत्कृष्ट मानी गयी ही है। वाममार्ग को भी उत्तम मार्ग ही कहा गया है। यह साधना शीघ्र फलदायिनी मानी गई है। किन्तु इस साधना में पञ्चमकार-साधना की दुहाई देकर इसे काफी घटिया साधना करार दिया गया, जब कि यह साधना दक्षिण मार्ग से उत्कृट, शीघ्र और स्थायी फल देनेवाली है।

प्राचीन भारतीय वाममार्गीय पद्धति में बहुचर्चित पञ्चमकारों की चर्चा आती है और इन आध्यात्मिक प्रकारों की चर्चा में कहा गया है—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन—ये पाँच प्रकार ही योगियों को मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं।

कुछ समालोचकों की दृष्टि में वामाचार तन्त्रों की भाषा सांकेतिक है। इसके संकेत को बिना समझे, इसके रहस्य को अनदेखी कर भोगलिप्सुओं ने अपने मानसिक स्तर के अनुरूप ही इस साधना को समझा और प्रचार किया। इसी के कारण इसके प्रति जनमानस में उपेक्षा का भाव पैदा हुआ। वास्तव में वामाचार बड़े ही उच्च स्तर की साधना है। ऐसे समीक्षकों की दृष्टि में इन आध्यात्मिक पञ्चमकारों के कुछ और ही सांकेतिक अर्थ हैं।

मद्य (मदिरा)

कुलार्णवतन्त्र में नारियल के पानी और दूध को मद्य कहा गया है। योगिनीतन्त्र में अलग-अलग वर्णों के लिए अलग-अलग मदिरापान का विधान है। जैसे अदरख के रस को गुड़ में मिलाकर जो आपानक तैयार होगा वह ब्राह्मणों के लिए सुरा है। काँसे के बरतन में नारियल का पानी क्षत्रियों के लिए सुरा है तथा काँसे के पात्र में मधुपान वैश्यों के लिए सुरा है। साधना के क्षेत्र में ऐसे ही सांकेतित अर्थ अभीप्सित हैं।

मांस

योगिनीतन्त्र में ही मांस और मत्स्य को लवण और अदरख का रस कहा गया है। यहाँ ही मांस का अनुकल्प माना गया है—लवण, अदरख, लहसुन, कालातिल और गेहूँ की बाली। कुलार्णवतन्त्र में भी कहा गया है कि पूजा और साधना में मांस की जगह लवण, अदरख, लहसुन और गेहूँ की बालें लेनी चाहिए। मांसाहार का प्रतीकात्मक स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रों में कहा गया है—'मां' शब्द रसनाप्रिय वस्तुओं का द्योतक है अर्थात् जो जीभ की प्रिय वस्तुओं का परित्याग कर अधिक-से-अधिक मौन साधता है, वही 'मांस'साधक कहलाता है।

मत्स्य

तन्त्र-ग्रन्थों में लाल मूली और बैगन को मत्स्य कहा गया है। कुलार्णव-तन्त्र में भी जहाँ मत्स्य का विधान है वहाँ बैगन, मूली, सिंघाड़ा और कसेरु आदि की चर्चा आयी है। मन मार कर, इन्द्रियों को वशवर्ती बनाकर आत्म-लीन होनेवाले जीवों को भी 'मीनाशी' ही कहा गया है। मत्स्यसाधक की यहाँ यही परिभाषा होनी चाहिए।

मुद्रा

मुद्रा का दिव्य रूप है—बुराइयों को जीतकर अच्छाइयों की स्थापना। ज्ञान की ज्योति से अपने अन्तःकरण को जगाने वाला साधक ही शब्द के सच्चे अर्थ में मुद्रासाधक है।

मैथुन

भैरव्यामल तन्त्र के अनुसार—परमानन्द को प्राप्त हुई सूक्ष्म रूप वाली जो सुषुम्ना नाड़ी है, वही आलिङ्गन करने योग्य सेवनीय कान्ता है। सुषुम्ना नाड़ी के सहस्रारचक्र में प्रवेश ही मैथुन है और कुछ नहीं। यह कुण्डलिनी-जागरण की प्रथम प्रारम्भिक प्रक्रिया है।

आगमसार में तान्त्रिक साधनाओं को खड्गधार या सूक्ष्म पथ बतलाया गया है। अतः तन्त्रमीमांसा समझने के लिए शक्ति और शक्तिमान् को समझना भी उतना ही आवश्यक है, क्योंकि 'त्रिपुरारहस्य' की पृष्ठभूमि भी यही शक्ति और शक्तिमान् है।

शक्ति और शक्तिमान्

शक्ति और शक्तिमान् में ही परमतत्त्व है। परमतत्त्व निर्गुण, निर्विकल्प, निरवेद्य, ज्योतिर्मय, अद्वय, सच्चिदानन्दस्वरूप, निष्फल, निर्विशेष और निरञ्जन है। नाम, रूप, क्रिया और बुद्धि से अगम्य, संविदास्वरूप है। निर्विकल्प, निष्प्रपंच परमतत्त्व की अभिव्यक्ति का मुख्य साधन स्वयं संवेद्यता है, क्योंकि यह स्वयं प्रकाश है। मन और बुद्धि के द्वारा अगोचर होते हुए भी वह बुद्धिगम्य है। उसी परमतत्त्व के दो रूप अभिव्यक्त होकर शक्ति और शक्तिमान् के रूप में प्रकट होते हैं।

श्रुतियों ने कहा है कि 'तदैच्छत् बहु स्यामः प्रजायेयाः' तथा—'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'। उस परमतत्त्व ने इच्छा की कि मैं बहुत रूपों में अभिव्यक्त हो जाऊँ या पहले की तरह सृष्टि करूँ। जो निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष है, उसमें इच्छा कैसे सम्भव है? इच्छा उसकी क्रिया नहीं है, उसकी शाश्वत शक्ति है। जिस तरह से सूर्य एवं उसकी रश्मियाँ, चन्द्र और चन्द्रिका, आग और उसका प्रकाश, दाहकता अभेद होते हुए भी भिन्न है; उसी तरह शक्ति और शक्तिमान् का भेदाभेद है। नैयायिकों ने सिद्ध किया है कि सब द्रव्य

गुणवान् होते हैं । गुण का आश्रय द्रव्य है, किन्तु द्रव्य की तरह गुण की स्वतन्त्र सत्ता भी है ।

वेदान्तियों की माया की तरह शक्ति अस्तित्वहीन और अनिर्वचनीय नहीं है, जिस तरह से ब्रह्माण्ड में रहते हुए व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता होती है । ब्रह्माण्ड के आश्रय में रहते हुए व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व है । इसी तरह शक्तिमान् के आश्रय में रहती हुई शक्ति स्वतन्त्र अस्तित्ववाली है ।

ग्रन्थ-परिचय

'त्रिपुरारहस्य' के प्रणेता महामुनि महर्षि हारितायन हैं । यह ग्रन्थ संवादात्मक है । परम साधक, ऊर्जस्वित तपस्वी, दयालु एवं ज्ञानी गुरु दत्तात्रेयजी तथा चिन्तन एवं भावबोध के बीच लड़खड़ाते परम पुरुषार्थी शिष्य परशुराम के बीच प्रवाहित ज्ञानगङ्गा का यह एक संवाद है । यह संवाद महर्षि हारितायन ने देवर्षि नारद को सुनाया है ।

एक जिज्ञासु के रूप में प्रश्नकर्त्ता परशुराम जब विभ्रम की स्थिति में संशयग्रस्त होकर दयालु गुरु दत्तात्रेय के शरणागत होते हैं; परम्पराओं के बीच अपनी सार्थकता खोजते हैं, तब अनायास इनके मुँह से अनेक प्रश्न अवतरित होने लगते हैं । भगवान् दत्तात्रेय के मन्दस्मित अधरपुट से शब्द स्फोट होता है परशुराम ! जगज्जननी त्रिपुरसुन्दरी के प्रति आत्मसमर्पण ही तो इसका सही निदान है । संशय जहाँ नहीं है, वहीं तो सही समर्पण है । समर्पण का अर्थ शरणागत नहीं होता, कदापि नहीं; ऐसे समर्पण का कोई पक्षधर नहीं होता । समर्पण तो साधक की क्षमता है । अपनी ऊर्जा से तुम ज्ञात-अज्ञात के अनन्त स्रोतों तक पहुँच सकते हो । अपने निजी विवेक की तुला पर भार बनकर तुम स्वयं खड़ा हो सकते हो । यह एक वैज्ञानिक सत्य है । समर्पण तो उस विज्ञान का ही प्रतिनिधि है परशुराम !

पुनः गुरु ने जगदम्बा की अनन्त महिमा का बखान किया । उन्होंने कहा कि परशुराम ! परमसिद्धा माता त्रिपुरसुन्दरी साक्षात् महामाया हैं । दयामयी, गर्वन्यायिनी जगदम्बा हैं । वह साधक की सम्पूर्ण साधना को सफल बनाने में समर्थ हैं, फिर उन्होंने उनकी उपासना और साधना का क्रम समझाया । अपने गुरु के मुँह से त्रिपुरसुन्दरी की महिमा सुनकर इनके हृदय में अगाध भक्ति की धारा लहरा उठी । उन्होंने महेन्द्र पर्वत पर जाकर बारह वर्ष तक बड़ी तत्परता और तल्लीनता के साथ देवी त्रिपुरा की आराधना की । उपासना और साधना के बीच उनके हृदय में सृष्टिचक्र और परमार्थतत्त्व के सन्दर्भ में अनेक जिज्ञासाएँ प्रादुर्भूत हुईं । इस क्रम में उन्होंने मुनि संवर्त से भेंट की । उनके सामने इन्होंने अपनी जिज्ञासा प्रकट की । यथासम्भव संवर्त मुनि ने इनके सामने कई समाधान रखें, पर उस समय इनकी समझ में कोई समाधान ठीक से बैठ न सका । फिर इसी विषय में इन्होंने अपने दयालु गुरु दत्तात्रेयजी से प्रश्न किया ।

अपने गुरु के मुँह से सभी प्रश्नों का समाधान पाकर सन्देहमुक्त होकर कृतकृत्य हो गये। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि जब तक साधक निष्काम कर्म और उपासना से अपने अन्तःकरण को शुद्ध एवं पवित्र नहीं बना लेता है, तब तक उसे तत्त्वसाक्षात्कार की योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती। संवर्त मुनि जैसे तत्त्वज्ञानी तपोनिष्ठ महापुरुष का उपदेश भी कारगर सिद्ध नहीं हो सकता।

त्रिपुरारहस्य तीन खण्डों में विभक्त है—(१) माहात्म्य, (२) चर्चा और (३) ज्ञान। प्रस्तुत ग्रन्थ ज्ञानखण्ड है। ज्ञानखण्ड कुल बाईस अध्याय में बँटा है। इसकी कुल श्लोक संख्या २१६३ है। माहात्म्य खण्ड में श्लोकों की संख्या ६६८७ है। बची बात चर्चाखण्ड की तो वह अब ऐतिहासिक चर्चा का विषय है, क्योंकि इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं है। एक बार चर्चा के क्रम में कामेश्वरसिंह संस्कृत विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त पूर्व कुलपति डॉ० जयमन्त मिश्रजी ने कहा था कि इसकी प्रति आडयार लाइब्रेरी, मद्रास में उपलब्ध है, किन्तु मेरे प्रयास से यह वहाँ भी उपलब्ध नहीं है।

ग्रन्थ की टीका

जहाँ तक ज्ञानखण्ड का प्रश्न है तो इस पर कई तरह की टीकाएँ उपलब्ध हैं। 'तात्पर्यदीपिका' नाम की प्राञ्जल एवं सरल संस्कृत टीका है। इस टीका के रचयिता श्रीनिवास बुध नामक कोई विद्वान् हैं। त्रिपुरारहस्य-ज्ञानखण्ड का पहले मराठी भाषा में अनुवाद किया गया है। इसके बाद लोकमान्य तिलक द्वारा विरचित गीतारहस्य के हिन्दी अनुवादक ख्यातनाम विद्वान् श्रीमाधव राव सप्रे ने इसका हिन्दी अनुवाद किया। इस अनुवाद का नाम 'दत्त-भार्गव-संवाद' रखा गया है। नागपुर-निवासी सेठ नागरमल पोद्दार ने इसका प्रकाशन बीसवीं सदी के पंचम दशक के प्रारम्भ में प्रायः किया है। इसकी प्रति भी अब प्रायः दुष्प्राप्य है, किन्तु ग्रन्थ की लोकप्रियता से प्रभावित होकर दिल्ली-निवासी श्रीनारायणदासजी मुलतानी ने इसका अविकल रूप में त्रिपुरारहस्य नाम से दस साल पहले प्रकाशित किया। इसके बाद काशी संस्कृत ग्रन्थमाला वाराणसी से इसके मूल के साथ हिन्दी टीका का प्रकाशन हुआ। इसके व्याख्याकार स्वामी सनातनदेवजी हैं। ग्रन्थ का नाम त्रिपुरा-रहस्यम् है।

प्रस्तुत टीका

कहना न होगा कि प्रस्तुत अनुवाद की अपनी एक विशेषता है। हमारी भारतीय भाषाओं में हिन्दी का अपना एक विशिष्ट ढाँचा है। हिन्दी के स्वरूप, इसका व्याकरण, इसकी अभिव्यक्ति की शैली कुछ अलग है। इसकी अपनी परम्परा है। यह एक अलग बात है कि भारतीय संविधान में की गई व्यवस्था के परिणामस्वरूप हिन्दी अर्थात् 'राजभाषा' का विकास भी सरकारी रीति-नीति से

ही हुआ है। विडम्बना तो यह है कि किसी का उससे कोई सरोकार है, ऐसा नहीं लगता। उसके प्रयोग के लिए नियम तो है लेकिन नीयत नहीं है। फिर भी पिछले एक दशक में मशीनी अनुवाद के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर के कम्प्युटर-विज्ञान विभाग ने संस्कृत व्याकरण के आधार पर 'जिस्टटेक्नोलॉजी' का विकास कर भारत की सभी प्रमुख भाषाओं को एक ही कम्प्यूटर कुंजीपटल पर स्थापित कर दिया है। भारतीय भाषाओं में आपसी आदान-प्रदान के लिए यह उपलब्धि एक वरदान है।

मशीनी अनुवाद की अनुसारक प्रणाली के इस युग में हिन्दी-अनुवाद कार्य कितना कठिन है, यह अनुमानगम्य है। भाषा सरल, सुबोध और सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य बनाने के लिए मूल ग्रन्थ में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों को जैसे के तैसे हिन्दी में 'तत्सम' और 'तद्भव' के नाम पर प्रयुक्त करना मुझे कत्तई रुचिकर नहीं रहा है। ऐसी पोंगापन्थी पण्डिताऊ हिन्दी से बचाव के लिए सर्वत्र मैंने बोलचाल की खड़ी हिन्दी का प्रयोग करने की चेष्टा में मूल तथ्य को स्पष्ट अभिव्यक्ति देने के प्रयास में मुझे यत्र-तत्र बोल-चाल में प्रयुक्त होने वाले उर्दू के प्रचलित शब्दों का सहारा लेना पड़ा। जैसे—सुषुप्ति = गहरी नींद, निःसीम = बेहद, अद्वितीय = बेजोड़, व्यवहार = कामकाज, असंख्य = बेशुमार, आश्रहीन = बेसहारा, निर्बुद्धि = नासमझ इत्यादि। भाषा को सरल, सुबोध और भावगम्य बनाने के मेरे इस प्रयास के लिए सुधी एवं विज्ञजन मुझे अवश्य क्षमा करेंगे, मेरा यह विश्वास है।

उपादेयता

आज की इस भौतिकवादी सभ्यता में तथाकथित बुद्धिवादी मनुष्य अपने सुख और समृद्धि की खोज में शायद अपने-आप को भुला दिया है। आज मनुष्य को क्या हो गया है, पता नहीं चलता। इतनी आत्मविपन्नता, इतनी अर्थहीनता और इतनी घनी ऊब के बीच वह जीने को विवश है। आज जीवन का स्पंदन तो जान पड़ता है, पर किसी व्यक्ति में जीने का भाव नहीं दीख पड़ता है। लगता है हर ओर जीवन तो है, पर लोग उसे बोझ की तरह ढो रहे हैं। कहीं न सौन्दर्य है न सुख, न संतोष है और न शान्ति और जहाँ आनन्द न हो, आलोक न हो वहाँ तो निश्चय ही जीवन नाममात्र का ही होता है। लगता है भौतिक समृद्धि की होड़ में लोग जीना ही भूल गये हैं।

आज आदमी विकृति से विकृति की ओर तेजी से बढ़ रहा है। लगता है जैसे उसके भीतर कोई निश्चित आधार टूट गया है। कोई बहुत अनिवार्य जीवनस्नायु जैसे नष्ट हो गये हों और सारा समाज किसी संस्कृति में नहीं विकृति में जी रहा है। इस विकृति और विघटन के परिणाम व्यक्ति से समष्टि तक

फैल गये हैं। परिवार से लेकर पृथ्वी की समग्र परिधि तक उसकी बेसुरी प्रतिध्वनियाँ सुनाई पड़ रही हैं।

आज का जीवन नागरिक हो गया है और समाज मृत, सड़ा हुआ, दुर्गन्ध देता शरीर हो गया है, क्योंकि लोग चित्त की बहुत-सी विक्षिप्तताओं को पहचानने में बिलकुल असमर्थ हो गये हैं। सत्ता की, संग्रह की, शक्ति की दौड़ में सब पागल हो रहे हैं। आत्महीनता से पीड़ित व्यक्ति सत्ता और पद की खोज में लगा है। आत्मदरिद्रता से ग्रसित व्यक्ति धन, सम्पदा, शक्ति और संग्रह की दौड़ में हाँफ रहा है। कोई कह सकता है कि आज मनुष्य की समृद्धि, क्षमता और शक्ति तो दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती जा रही है, पर भगवान् बचाये मनुष्य को इस तथाकथित समृद्धि से। यह समृद्धि नहीं विनष्टि का किनारा है। मानवता का पल्ला छूट गया है। मनुष्य पशु से बदतर जीवन जीने को बाध्य है।

अतः यह कहना सम्भव नहीं है कि मनुष्य की समृद्धि बढ़ गई है। वस्तुओं की समृद्धि तो अवश्य बढ़ गई है, पर मानवता की समृद्धि उसी अनुपात में घट गई है। यह सच है कि विज्ञान के आलोक ने मनुष्य की आँखें खोल दी हैं और उसकी नींद तोड़ दी है। उसने ही मनुष्य से बहुत सारे दीर्घपोषित स्वप्न छिन लिये। लगता है आधी रात में इस विज्ञान ने प्रसुप्त लोगों को झकझोर कर जगा दिया है। इसने मनुष्य का बचपन छीन लिया है और उसे प्रौढ़ता दे दी है। फलतः मनुष्य का मन अन्धविश्वास की कारा से मुक्त होकर विवेक की ओर अग्रसर हुआ है—यह शुभ है।

इस भौतिक विज्ञान ने हमें शक्ति तो दी है, पर हमारी शान्ति कहीं खो गई है। मानवता क्षत-विक्षत हो गई है। अशान्त और अप्रबुद्ध हाथों में आई शक्ति से ही आज यह दुनिया संत्रस्त है। समस्त उपद्रव की जड़ यही है। अशान्त और अप्रबुद्ध का शक्तिहीन होना ही शुभ होता है। शक्ति सदा शुभ नहीं होती, वह तो शुभ हाथों में ही शुभ होती है।

इस युग का मानव केवल शक्ति की खोज में लगा रहा, यही सबसे अधिक भूल हुई है। आज अपनी ही उपलब्धि से मनुष्य को खतरा है। इस तरह की एकाङ्गी अन्धी खोज ने ही मनुष्य को इस खतरे के किनारे लाकर खड़ा कर दिया है। शक्ति नहीं शान्ति की खोज होनी चाहिए। स्वभावतः खोज का लक्ष्य यदि शान्ति होगी तब खोज का केन्द्र प्रकृति नहीं, मनुष्य होगा। जड़पदार्थ की बहुत खोज और शोध हो चुकी है, अब मनुष्य का और उसके मन का अन्वेषण आवश्यक है।

मनुष्य का मनुष्य को ठीक से न जानना ही इस आत्मघाती सम्भावना की जड़ है। पदार्थ की अनन्त शक्ति से आज का मानव परिचित है—परिचित नहीं, उसका विजेता भी है। किन्तु मानवीय हृदय की गहराईयों से सम्पर्क

छूट गया है। आज का मानव पदार्थाणु को तो जानता और पहचानता है, पर आत्माणु से बिल्कुल अपरिचित है। यही इस युग की सबसे बड़ी भूल और विडम्बना है। त्रिपुरारहस्य इसी आत्माणु के अनुसंधान की ओर हमें प्रेरित करता है। यह इस ग्रन्थ की सशक्त उपादेयता है।

वर्ण्यवस्तु

ज्ञान कैसे उपलब्ध हो ? यह इस ग्रंथ का मूल विचारणीय विषय है। पुरुषार्थी परशुरामजी की मूल जिज्ञासा भी यही है--मानवीय प्रज्ञा क्या है ? गुरु दत्तात्रेय के कथन का सार है—मानव में जो ज्ञानशक्ति है, वह विषय-मुक्त हो तो प्रज्ञा बन जाती है। विषय के अभाव में ज्ञान स्वयं को जानता है। स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान ही प्रज्ञा है। इस बोध में न कोई ज्ञाता होता है और न कोई ज्ञेय, केवल ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही शेष रह जाती है। स्वयं से स्वयं का प्रकाशित होना प्रज्ञा है। ज्ञान का स्वयं अपने-आप पर लौट आना ही प्रज्ञा है। यही मनुष्य की चेतना की सबसे बड़ी क्रान्ति है। इस क्रान्ति में ही मनुष्य स्वयं से सम्बन्धित होता है और जीवन के प्रयोजन और अर्थवत्ता का उसके समक्ष उद्घाटन होता है।

यह क्रान्ति त्रिपुरारहस्य के अनुसार परमतत्त्व केवल शुद्ध चैतन्य है। वह सर्वत्र व्याप्त और हर प्रकार की मर्यादा से रहित है। उसमें बेशुमार ताकत है और वह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है। यह शुभशक्ति ही चिति का मूल स्वरूप है। सृष्टि-संरचना से पूर्व अव्यक्त रूप से यह उसी में सभाहित रहती है और सर्गकाल उपस्थित होने पर अपनी संकल्पशक्ति से वह शुद्धचिति ही आईने में परछाई की तरह इस दृश्य प्रपंच को अपने-आप में समाहित कर लेती है। यद्यपि स्वरूपात्मक देश और क्रियात्मक काल का आभास भी इस चितिशक्ति में ही निहित है, फिर भी उसका आधार होने के कारण यह किसी भी तरह उससे प्रभावित नहीं होती। दर्पण में झलकने वाली परछाई से दर्पण जैसे निःसंग रहता है, ठीक उसी तरह यह भी रहती है।

सुरासुरवन्दिता देवी त्रिपुरा ही शुद्धचिति है। यह सर्वत्र व्याप्त हैं। इन्हें समझने में लोगों को भूल होती है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर जो एक बोध की शक्ति है, उसमें इसे झाँकना है और उसी के सहारे गति लानी होती है। जैसे-जैसे भीतर गति होती है, वैसे-वैसे बोध के आयाम उद्घाटित होने लगते हैं और व्यक्ति जड़ता और यांत्रिकता से ऊपर उठकर इस आत्मचैतन्य रूपा त्रिपुरा का सामीप्य प्राप्त करता है। जैसे-जैसे वह चैतन्य के प्रगाढ होते स्वरूप से परिचित होता है, वैसे-वैसे उसकी जड़ता समाप्त होने लगती है और उसमें कुछ घना और एकाग्र केन्द्रित होने लगता है। इस प्रक्रिया के परिणाम से वह इस चिति का सामीप्य प्राप्त कर कृतार्थ होता है।

शाक्ततन्त्र में महादेवी त्रिपुरा को ही दुर्गा, ललिता, षोडशी, श्रीविद्या,

कामेश्वरी, भुवनेश्वरी तथा त्रिपुरासुन्दरी के नामों से अभिहित किया गया है। इनकी आकृति बड़ी आकर्षक एवं मनोमुग्धकारिणी है। इनके सिंहासन के चार पाये ब्रह्मा (सृष्टि के संरचयिता), विष्णु (सृष्टि के पालक), शिव (सृष्टि के हर्त्ता) और इन्द्र (नियन्ता) हैं। उस सिंहासन के पदपीठ स्वयं सदाशिव हैं। यद्यपि इनकी गणना दश महाविद्याओं में है, तथापि ये स्वयं एक महाविद्या हैं। शक्तिसंगमतन्त्र के अनुसार 'कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा'। अर्थात् महादेवी ललिता ही कभी 'श्रीकृष्ण' के नाम से पुरुष रूप धारण करती है, किन्तु वैष्णव तन्त्रों के अनुसार देवी ललिता राधारानी की प्रिय सखी है। इतना होते हुए भी असंदिग्ध रूप से यह तो कहा ही जा सकता है कि महाविद्या ललिता देवी और श्रीराधा-कृष्णसहचरी ललिता के स्वरूप, शक्ति और प्रभाव में पूर्ण विषमता है। चिद्रूपिणी होने के कारण तत्त्वतः तो इनका अभेद हो सकता है, किन्तु उपासना होने के कारण लीलाभूमि में इनकी एकरूपता संभव नहीं है।

महादेवी सुरासुरवन्दिता त्रिपुरा का स्वरूप-चिन्तन एक विचारणीय विषय है। अद्वैतसिद्धान्तवादियों का शुद्धचिन्मात्र परब्रह्म और त्रिपुरारहस्य में प्रतिपादित शुद्धचिति यद्यपि आपत दृष्टि से अभिन्न प्रतीत होती है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से दोनों का स्पष्ट अन्तर झलकता है। यद्यपि तत्त्वतः ये दोनों एक ही हैं, फिर भी अनुचिन्तन की दृष्टि से दोनों ही दार्शनिक इसे एकरूप में नहीं देखते। दूसरी बात यह भी है कि उपासना का भेद होने के कारण लीलाभूमि में इनकी एकरूपता सिद्ध नहीं होती है। दोनों ही दार्शनिकों के मत में यह दृश्यप्रपञ्च सर्वथा असत् और माया का विलास मात्र है।

इस एकरूपता के बावजूद ब्रह्मवादी अद्वैत सिद्धान्त और शाक्त दर्शन में एक सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट दीख पड़ता है। अद्वैतवादी सिद्धान्त ब्रह्म को बिलकुल निर्विशेष, निर्विकार, निर्गुण और नित्यकूटस्थ मानते हैं। इस दृश्यप्रपंच को सत् और असत् से विलक्षण, अनिर्वचनीया माया से अलग, पर उसकी महिमा से मोहान्धकार में पड़ी हुई डोरी में साँप की प्रतीति की तरह एक अनुभूति मात्र मानते हैं। इनकी दृष्टि में संसार कभी उत्पन्न नहीं हुआ, अतः यह सारा प्रपंच उसका विवर्त्तमात्र है। किन्तु त्रिपुरारहस्य उस परमार्थतत्त्व में बेशुमार और बेनियाज ताकत स्वीकार करता है। उसके मतानुसार शुद्धचिति अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य के कारण अपने अमोघ संकल्प द्वारा भित्ति रूप अपने ही ऊपर इस जगत्-चित्र को आभासित कर देती है। आईने में जैसे सामने के पदार्थों की परछाईं पड़ती है, उसी तरह शुद्धचिति में उसके संकल्पवश संसार का चित्र प्रतिभासित हो उठता है। यह उस परम तत्त्व का सहज सामर्थ्य है। अतः यह शाक्तदर्शन यद्यपि शाङ्कर-सिद्धान्त की भाँति अद्वैतवादी ही है; तथापि इसके द्वारा स्थापित अद्वैत तत्त्व अकर्त्ता, अभोक्ता,

निर्गुण और निर्विशेष नहीं है। यह शक्तिसम्पन्न और विमर्श रूप है। विमर्श उसकी क्रियाशक्ति का नाम है। यह क्रियाशक्ति तो उसमें हमेशा मौजूद ही रहती है। सृष्टि-संरचना के समय वह पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाती है, अतः उस समय इसे 'ब्रह्माभास' कहते हैं। प्रलय काल में वह लीन रहती है, अतः उन्हें 'अनहंभाव' कहा जाता है। यद्यपि यह अनहंभाव वेदान्त में प्रतिपादित मूल अविद्या की तरह ही है, फिर भी मूला अविद्या ब्रह्म में अध्यस्त और जड़रूपा है तथा यह अनहंभाव उस शुद्धचिति की इच्छाशक्ति मात्र है। अतः वह उससे बिलकुल अभिन्न है।

प्राचीन भारत में मुमुक्षु सम्प्रदाय में सांख्य एवं योग ये दो सम्प्रदाय प्रचलित थे। सगुण आत्मज्ञान के आविर्भूत होने पर उसके साथ योग भी अवश्य आविष्कृत हुआ था। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन या समाधि के बिना किसी प्रकार का आत्मज्ञान साध्य नहीं है। निर्गुण तत्त्व का आविष्कार होने से योग का भी उसके अनुरूप संस्कार हुआ था। परमर्षि कपिल से जिस प्रकार निर्गुण आत्मा का ज्ञान प्रवर्तित हुआ, उसी प्रकार निर्गुण पुरुष को प्राप्त करनेवाला योग भी प्रवर्तित हुआ। यह सांख्य एवं योग पेट और पीठ की तरह अन्योन्याश्रित है। जो तत्त्व केवल निदिध्यासन और वैराग्य का अभ्यास कर आत्मसाक्षात्कार कराने की विधि का प्रतिपादन करता था, उसे सांख्यदर्शन कहा जाता था और जो तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान जैसे क्रियायोग की विधि का निष्पादन करता था, वह योग कहलाता था। वस्तुतः सांख्य मोक्षधर्म का तत्त्वकाण्ड है तथा योग साधनकाण्ड है।

वेदान्त-दर्शन ने केवल पुरुष और ईश्वर के सम्बन्ध में अपना भिन्न मत प्रकट किया है। इनके अनुसार पुरुष एवं ईश्वर वस्तुतः एक ही पदार्थ है; पुरुष अनेक नहीं है। हिरण्यगर्भादि के रूप में ईश्वर सृष्टि करते हैं। प्रकृति को ईश्वर की माया या इच्छा कहते हैं। यह अनिर्वचनीय भाव से ईश्वर में रहती है। अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा अनादिकाल से ईश्वर ने ही अपने को जीवरूप में प्रकटित किया है। सांख्यदर्शन से वेदान्तदर्शन यहीं आकर भिन्न प्रतीत होता है।

अन्य दार्शनिकों ने प्रायः उपर्युक्त सभी मत ग्रहण किये हैं, पर कुछ तार्किक अपने सोलह या छः पदार्थों के अन्तर्गत ही इन्हें मानना चाहते हैं। वे निर्गुण पुरुष का तत्त्व उतना ही समझते हैं, वे आत्मा को सगुण मानते हैं। तर्कदर्शन भी सांख्य के समान पूर्णतः युक्तिवादी है। बौद्ध, वेदान्तिक आदि मूलतः इस दृष्टि से अन्धविश्वासवादी ही प्रतीत होते हैं।

इस तरह इन तथ्यों पर विचार करने पर साफ तौर पर जाहिर होता है कि अद्वैतवेदान्त जहाँ विवर्त्तवादी है, वहाँ शाक्तदर्शन आभासवादी है। दोनों ही सिद्धान्त के अनुसार सांसारिक व्यवहारों का विस्तार केवल अनुभूतिपरक

धोखा है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार यह प्रतीति भ्रममूलक है और शाक्तमत के अनुसार यह प्रतीति उस परमचिति की सामर्थ्य से होती है। अद्वैत सिद्धान्त में इसका कारण अनादि और अनिर्वचनीया माया है। किन्तु शाक्त सिद्धान्त में इसका कारण उस परमचिति की बेनियाज ताकत से उत्पन्न संकल्प है। किन्तु दोनों सिद्धान्त के अनुसार दृश्यपदार्थ की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जैसे किसी रस्सी में भूल से दीखनेवाला साँप उस रस्सी से अलग कुछ नहीं होता; उसी तरह आईने में उसकी स्वच्छता के कारण दीखनेवाली परछाई भी आईने से कुछ अलग नहीं होती। अतः दोनों ही सिद्धान्तों के अनुसार एक अखण्ड, अद्वैत, चिन्मात्र सत्ता ही परमार्थ है और वही दोनों का लक्ष्य भी है।

यद्यपि इन दोनों दर्शनों का लक्ष्य एक होने के बावजूद उनके लक्षणों में भेद है; उसी तरह उसकी उपलब्धि के साधनों में भी अन्तर है। शाक्त सिद्धान्त के अनुसार परमचिति ही सर्वव्यापिनी, शाश्वतिक और स्वयंसिद्ध आत्मिक चेतना है। लोकोत्तर बोध और क्रियात्मक स्वातन्त्र्य का समरस भाव ही इसका स्वरूप है। एक साथ सब कुछ होने के कारण उस स्वरूप में किसी भी स्तर पर कोई रूपविपर्यय नहीं, पर रूपविस्तार अवश्य है। स्वरूपतः वह न कम है और न कुछ अधिक। उसके अतिरिक्त कोई भी सत्ता या महासत्ता न तो उससे अधिक है और न उससे भिन्न है। यह समस्त ऐन्द्रिय बोध से ग्राह्य, व्यक्त नामरूपात्मक या अव्यक्त कल्पनात्मक, विश्वमय रूपविस्तार वह परम-चिति ही है। उसे ढूंढने के लिए न तो हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर जाने की आवश्यकता है और न तो अपार पारावार की गहराईयों में गोते लगाना है। वह तो ढूंढनेवाले के अन्तरतम में छिपी हुई निजी हार्दिक स्फूर्ति मात्र है।

सृष्टि के प्रारम्भ से ही मानव अपने को जानने का संघर्ष करता आया है। आज भी इसी उधेड़बुन में विवश है। इसी उधेड़बुन में वह साधु, सिद्ध, वैरागी, दार्शनिक सब कुछ बनने का स्वांग भरता रहा है; किन्तु समस्या जहाँ की तहाँ ही स्थिर रही।

"अद्यापि यन्न विदितं सिद्धानां बोधशालिनाम्" (प० वि० पृ० ४८)

खोई हुई वस्तु ढूंढने पर मिल सकती है, पर जो वस्तु अपने भीतर-बाहर हर जगह मौजूद हो, जो वस्तु कभी खोई ही नहीं उसे खोजने से क्या लाभ? कण-कण में सर्दैव स्पन्दित वह चित्शक्ति ही तो है। हृदय की गति की तरह अविराम रूप से चलती रहनेवाली विश्वात्मिका हलचल ही उसका शरीर है—

"आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः" ॥ (शि० दृ० ११२)

यह परमेश्वरी क्रियाशक्ति सर्वस्वतन्त्र है। फलतः शाश्वतिक क्रियाशीलता ही महाशक्ति चिति है।

अद्वैतवाद एकमात्र विचार को ही उसकी उपलब्धि का साधन मानता है, क्योंकि उसके अनुसार वह साधक का अपना नित्य सिद्धस्वरूप है। वह तो उसे नित्य प्राप्त है, केवल अविद्या के कारण ही उसे नहीं पाने का भ्रम है। अतः विचार से अविचार या अविद्या की निवृत्ति होने पर उसे स्वयं ही उसकी अनुवृत्ति हो जाती है। इसके लिए उसे गुरुमुख से उच्च ग्रन्थ का अर्थ सुनने की आवश्यकता होती है। क्योंकि जो वस्तु प्रत्यक्ष रहने पर भी अज्ञान के कारण अनजान बनी रहती है, उसकी जानकारी किसी आप्त पुरुष के कथन के सिवा और किसी प्रकार से नहीं हो सकती। अतः जिन शुद्धचित्त जिज्ञासुओं के हृदय में मल-विक्षेप रूप कोई दोष नहीं होता, उन्हें तो गुरु का उपदेश सुनने से ही उस तत्त्व का अप्रतिबद्ध बोध हो जाता है, किन्तु जिसके चित्त में अशुद्धि के कारण संशयविपर्यय रूप प्रतिबन्ध रहता है, उन्हें उसकी निवृत्ति के लिए मनन एवं निदिध्यासन भी करने पड़ते हैं। मनन से संशय और निदिध्यासन से विपर्यय की निवृत्ति होती है। फिर अखण्डाकार वृत्ति होकर उन्हें प्रतिबन्ध-शून्य ज्ञान मिलता है। इस विचार के अनुसार अद्वैतवेदान्तियों के मत से श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीनों ही साधन माने गये हैं।

शाक्तदर्शन के अनुसार विचार उसका प्रधान साधन नहीं है, बल्कि विचार का अभाव होने पर ही उसका बोध होता है—

"गत्वा दूरं न तत् प्राप्यं स्थित्वाप्राप्तं हि सर्वदा।
न तद्विचार्यं विज्ञेयमविचाराद्विभासते"॥ (त्रि० र० ९।८२)

विचारों से जो जितना घिरा होता है, वह विचार करने में उतना ही अशक्त और असमर्थ हो जाता है। विचारों की भीड़ चित्त को अन्ततः विक्षिप्त कर देती है। विक्षिप्तता विचारों की अराजक भीड़ ही तो है। अतः विचार-शक्ति के जागरण के लिए विचारों का भार कम-से-कम होना आवश्यक है। विचार बोझ नहीं होना चाहिए। पराये विचारों से मुक्त होते ही विचारशक्ति जागने लगती है। विचारों से मुक्त होते ही स्वयं की अन्तःसत्ता से कोई नई शक्ति जग जाती है। किसी अभिनव और अपरिमित ऊर्जा का आविर्भाव स्वतः होता है। चक्षुहीन को जैसे अनायास चक्षु मिल जाते हैं। अपने भीतर विचार-शक्ति का उद्भव होता है, जीवन में आँखें मिल जाती हैं। फिर जहाँ आलोक है, वहाँ आनन्द है और जहाँ आँखें हैं वहाँ मार्ग निष्कंटक है। पराचिति की उस पर परम कृपा स्वतः होती है। आत्मदर्शन करामलक बन जाता है।

शाक्त सिद्धान्त के अनुसार गुरु के उपदेश या शास्त्रीय ज्ञान से केवल आँख से जो वस्तु ओझल है, उसका ज्ञान संभव है। इससे मुक्ति नहीं मिल सकती है। प्रत्यक्ष ज्ञान तो समाधि साधने से ही मिलता है। इसका एक विशेष कारण है। योगदर्शन के अनुसार एकतानभाव से मन में एक ही ज्ञान को उदित रखकर अन्य ज्ञानों का निरोध आत्मदर्शन का साधन है। किन्तु शाक्त

सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि चिति नित्यसिद्धा और सबकी स्वरूपभूता ही है, फिर भी उसका तिरोधान होता है। अज्ञान या अविचार के कारण नहीं, बल्कि उसकी विमर्शशक्ति से प्रतिभासित दृश्यवर्ग से ही माना गया है। परछाई की पैठ रहते हुए जैसे आईने की चमक साफ-साफ नहीं दीखती उसी तरह यह हृदय जब तक देखनेवाली वस्तु और उसे देखने की पैठ बनी रहेगी तब तक उसे उसकी आधारभूता चिति का परिचय नहीं होता। इसके लिए सर्वप्रथम निष्काम कर्म और उपासना से सूक्ष्म मन एवं चित्त को शुद्ध करना पड़ता है। ऐसे ही पवित्र मन में उस परमतत्त्व का स्फुरण होता है। फिर सांसारिक व्यवहार में भी उसकी अनुभूति हो ही जाती है।

शाक्तमतानुसार ज्ञान की एक शक्ति है, लेकिन वह ज्ञेय से — विषयों से ढकी है। एक विषय हटता है तो दूसरा आ जाता है। एक विचार जाता है तो दूसरे का आगमन हो जाता है। ज्ञान एक विषय से मुक्त होता है तो दूसरे से बँध जाता है, लेकिन यह रिक्त कभी नहीं हो पाता है। ज्ञान यदि विषय-रिक्त हो तो उस अन्तराल में, उस रिक्तता में, उस शून्यता में ज्ञान स्वयं में ही होने के कारण स्वयं की सत्ता का उद्घाटक बन जाता है। ज्ञान जहाँ विषय-रिक्त है, वहीं वह स्वप्रतिष्ठ है। ज्ञान जहाँ ज्ञेय से मुक्त है, वहीं वह शुद्ध है और वह शुद्धता-शून्यता ही आत्मज्ञान है। चेतना जहाँ निर्विषय है, निर्विचार है, निर्विकल्प है, वहीं जो अनुभूति है; वही स्वयं का साक्षात्कार है; उस परमचिति का स्वरूपदर्शन है।

इस आत्मस्वरूप परमचिति को कहीं खोजा भी नहीं जा सकता, क्योंकि वह खोजनेवाले का ही स्वरूप है। इस खोज में खोज और खोजी भिन्न नहीं है। इसलिए इस परमचिति को केवल वे ही खोज पाते हैं, जो सब खोज छोड़ देते हैं और इसे वे ही जान पाते हैं जो सब जानने से शून्य हो जाते हैं।

त्रिपुरारहस्य में इसका उल्लेख मिलता है कि सोने-जगने के बीच की अवस्था दो पदार्थ या दो वृत्तियों के बीच की सन्धियाँ—इनमें किसी भी अवस्था, पदार्थ या वृत्ति की स्थिति न रहने के कारण चित्त निर्विषय बना रहता है। यह निर्विषय चित्त ही वास्तव में शुद्धचिति का स्वरूप है—

> 'अथान्यथापि वक्ष्यामि समाधेः सम्भवं शृणु।
> जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां मध्ये सन्ति समाधयः'॥ (त्रि० र० १७।१२)
> 'देहे देहावभासमयं भावे भावात्मकं तथा।
> मध्ये तन्निर्विकल्पाख्यं मनो लक्षय सर्वथा'॥ (त्रि० र० १७।१४)
> 'व्यवहारे न कस्यापि ज्ञानमेकं तु भासते'। (त्रि० र० १७।१५)

यह शुद्धचिति ही परमपद है, यही सर्वेश्वर है, दुनियाभर के सभी व्यवहारों का यही सहारा है। दुनिया की हर चीज के रूप में यही दीख रही

है, किन्तु स्वरूप से उनमें किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। इस तरह निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर ही उस परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है। किन्तु साक्षात्कार हो जाने के बाद तत्त्ववेत्ता के लिए यह कोई आवश्यक नहीं कि वह सदैव उसी स्थिति में रहे। उसका स्वरूप तो नित्यसिद्ध है ही। किसी भी अवस्था-विशेष में उसे सीमित नहीं किया जा सकता है। हर अवस्था में वह उसी में प्रतिभासित रहती है। वह जिस किसी स्थिति में होगा, स्वरूपस्थ रहेगा ही। जिस प्रकार दीपक सब ओर विषयों को प्रकाशित करता है किन्तु स्वयं कभी किसी अन्य दीपक का प्रकाश्य नहीं होता। वह किसी अन्य प्रकाशक की अपेक्षा न रखकर स्वयं प्रकाशित होता है—

'यथा हि दीपो विषयान्प्रकाशयति सर्वतः।
स्वयं प्रकाश्यतां नैति क्वचिद् दीपस्य कस्यचित्॥
प्रकाशते स्वयं चैवानपेक्षान्यं प्रकाशकम्'॥

(त्रि० र० १५।८५$\frac{1}{2}$)

अतः सर्वोत्कृष्टा चित्शक्ति सबकी आधारभूता त्रिपुरा देवी हैं। यही सबको प्रकाशित करने वाली हैं। अतः यह कब और कहाँ प्रकाशित नहीं होती?

'चिच्छक्तिरेषा परमा त्रिपुरा सर्वसंश्रया।
सर्वावभासिणी कुत्र कदा वा न प्रकाश्यते'॥ (त्रि० र० १५।९०)

विचार चिन्तन है और दर्शन चिकित्सा। प्रश्न पराचिति का नहीं, उन्हें ठीक से परखने का है। यही तत्त्वचिन्तन, दार्शनिक सिद्धान्त, सम्प्रदाय या योग विभिन्न दिशाओं के यात्री हो जाते हैं। साधनों में भेद रहने के बावजूद विभिन्न मार्गों का अनुसरण करनेवाले साधकों की चरम परिणति तो एक ही है। सभी साधन श्रुतिसम्मत हैं और इन मार्गों पर चलकर एक ही शुद्धचेतन की अनुभूति होती है। भारतीय मनीषियों ने परमतत्त्व की उपलब्धि के लिए जिन साधनों की उद्भावना की है, उनसे अन्त में एक ही परमतत्त्व की उपलब्धि होती है। इन साधनों के सहारे शरीर की मिट्टी के घेरे से ऊपर उठती हुई जीवनज्योति अनुभव में आती है। यहीं से चक्रीय गति से चले सांसारिक मार्ग छूटने लगते हैं और ऊर्ध्वगमन होने लगता है। उसके पूर्व जो प्रकृति प्रतीत होती थी, वही परमात्मा में परिणत हो जाती है।

प्रभु का द्वार सबके लिए सदैव खुला रहता है। आवश्यकता वहाँ तक पहुँचने की है। ये विभिन्न साधन या सिद्धान्त अन्ततः उसी लक्ष्य तक पहुँचते हैं। जैसे विभिन्न दिशाओं से चलकर नदियाँ सागर तक पहुँचती हैं। साधकों की अपनी-अपनी भावना और साधना के अनुसार उस एक ही परमतत्त्व की अनेक रूपों में उपलब्धि होती है। साधकों की भावना और रुचि-भिन्नता के कारण ही सम्प्रदाय-भेद की संसृष्टि हुई है, जो कुछ हद तक उचित भी है।

क्योंकि सभी सम्प्रदायों का गन्तव्य एक ही है। कुछ साधक भूल से प्रस्थान-बिन्दु को ही गन्तव्य मानकर रुक जाते हैं। यहीं से भ्रम उत्पन्न होता है, यही विडम्बना है।

चिन्तन जहाँ पूर्वधारणाओं और पूर्वपक्षपातों से प्रारम्भ होता है, वहाँ अन्ततः सत्य नहीं, सम्प्रदाय ही हाथ में रह जाते हैं। अज्ञान और पूर्वधारणा-ग्रस्त में स्वीकृत कोई भी विचार सार्वलौकिक नहीं हो सकता। सार्वलौकिक तो केवल सत्य ही हो सकता है। यही कारण है कि जहाँ विज्ञान एक है, वहाँ तथाकथित धर्म और सम्प्रदाय अनेक तथा परस्पर विरोधी हैं। धर्म भी जिस दिन विश्वास की कारा से मुक्त होकर विवेक पर आधारित होगा, उस दिन अपरिहार्य रूप से एक हो जायेगा। अन्धविश्वास अनेक हो सकते हैं, पर विवेक एक ही है। असत्य अनेक हो सकते हैं, पर सत्य एक ही है।

विज्ञान में प्रयोगजन्य ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी मानने की तैयारी नहीं है। वह न तो आस्तिक है और न नास्तिक। उसकी कोई पूर्वमान्यता नहीं है। वह कुछ भी सिद्ध नहीं करना चाहता। सिद्ध करने के लिए उसकी अपनी धारणा नहीं है। वह तो जो सत्य है, उसे ही जानना चाहता है। यही कारण है कि विज्ञान के पंथ और सम्प्रदाय नहीं बने और उसकी निष्पत्तियाँ सार्व-लौकिक हो सकीं। विज्ञान पदार्थों का विज्ञान है, धर्म चेतना का विज्ञान है। वस्तुतः सम्यक् धर्म तो सदा से ही विज्ञान रहा है। सत्व या परम चैतन्य तो भिन्न-भिन्न हो ही नहीं सकते। लेकिन ऐसा वैज्ञानिक धर्म कुछ अतिमानवीय चेतनाओं तक ही सीमित रहा है। विज्ञान की आग में अन्धविश्वास का कचड़ा जिस दिन जल जायेगा उसी दिन सत्य और अपने वास्तविक रूप में प्रकट होगा। धर्मरूपी सोना आज विज्ञानरूपी आग में जलकर शुद्ध हो रहा है। धर्म जब अपनी पूरी शुद्धि में प्रकट होगा तब मनुष्य की चेतना-जगत् में एक अभिनव सूर्य का उदय होगा। मनुष्य अपने-आप का अतिक्रमण कर ईश्वर बन जायेगा। त्रिपुरारहस्य इस अतिमानवीय चेतना को प्रबुद्ध करने की प्रक्रिया का विश्लेषण है।

इसकी व्याख्या समाप्त कर मुझे लगता है या ऐसा अनुभव होता है कि मानव चेतना में जो ज्ञान की एक शक्ति है, उसका संधान ही त्रिपुरारहस्य का मूल रहस्य है। सर्वत्र इसका चित्रण लाक्षणिक है। आज धर्मशून्य विज्ञान ने हमें शक्ति दी है, किन्तु हमारी शान्ति कहीं खो गई है। विवेकशून्य धर्म ने हमें शान्ति तो दी है किन्तु हमारा शौर्य कहीं गुम हो गया है। इसी शान्ति और शौर्य के संगम पर धर्म और विज्ञान की मिलन-भूमि पर साधनात्मक ऊर्जा के रूप में देवी त्रिपुरा का लाक्षणिक चित्रण है। देखनेवाले इसे मेरी तरह न देखें, यह तो सम्भव है, परन्तु यह अधिकार तो उन्हें है ही कि आप जो देखें वही लोगों से कहें।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में जिन मनीषियों के ग्रन्थों की सहायता ली गई है, मैं हृदय से उनका आभार स्वीकार करता हूँ। इस सन्दर्भ में विशेष रूप से स्वामी श्रीसनातनदेवजी महाराज तथा श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्दजी महाराज एवं प० नानकचन्द शर्मा जैसे विद्वानों का मैं विशेषरूप से आभार प्रकट करता हूँ। बीहट संस्कृत विद्यालय के प्रधानाचार्य प० श्रीशुकदेव पाठकजी का सहयोग भी सराहनीय रहा है। अंग्रेजी प्रतिष्ठा की छात्रा अपनी पौत्री शुभांसुबाला को मैं हृदय से आशीर्वाद देता हूँ, जिसने परिशिष्ट एवं सूची बनाने का भार अपने हाथों में लिया है।

और अन्त में चौखम्बा सुरभारती के प्रकाशक-बन्धुओं को धन्यवाद देना कभी चूक ही नहीं सकता। क्योंकि इन्होंने प्रकाशन के अन्य कार्यातिभार के रहते इस दुर्लभ ग्रन्थ के प्रकाशन के प्रति अपनी कृतसंकल्पता व्यक्त की है।

सर्वात्मभूतं यद्रूपं विचार्यावगतं स्फुटम्।
मुक्तिः स्यादन्यथा बन्धः सा भवेत् त्रिपुरैव ह्रीम्॥

× × ×

शाके रसेन्दुनिधिचन्द्रे धिषणे कुह्वि बाहुले।
समाप्तिरगमद्व्याख्या विमलेयं मयेरिता॥

—डॉ० जगदीशचन्द्र

श्रीसरस्वती सदन,
प्रोफेसर्स कालोनी
पो० रिफाइनरी टाऊनशिप,
बेगूसराय ८५१११७

अध्यायगत विषयानुक्रम

॥ श्रीः ॥

त्रिपुरारहस्यम्

'विमला'-हिन्दीव्याख्योपेतम्

(ज्ञानखण्डम्)

प्रथमोऽध्यायः

ॐ नमः कारणानन्दरूपिणी परचिन्मयी ।
विराजते जगच्चित्रचित्रदर्पणरूपिणी ॥ १ ॥
श्रुतं कच्चिन्नारदैतत् सावधानेन चेतसा ।
माहात्म्यं त्रिपुराख्याया यच्छ्रुतिः परसाधनम् ॥ २ ॥

---

* विमला *

सर्वाधारान्निराधारान्निराकारामपरात्पराम् ।
भूमानन्दां चिदानन्दां कारणानन्दरूपिणीम् ॥ १ ॥
स्वप्रकाशैकरूपां तामपरमामपरचिन्मयीम् ।
त्रिलोचन-वल्लभां वन्दे विघ्नव्यूहविघातिनीम् ॥ २ ॥
त्रिगुणात्मिकां त्रयातीतामवस्थात्रयसाक्षिणीम् ।
त्रिपुरां तामहं वन्दे सत्त्वरूपां सरस्वतीम् ॥ ३ ॥
त्यत्यन्तवेद्यं 'त्रिपुरारहस्यं' तत्त्वार्थगूढं तपसाऽपि दुर्लभम् ।
तदर्थबोद्धुं शिव-शक्तिरूपां सरस्वतीं प्राङ्मनसा च संस्तुवे ॥ ४ ॥
क्वास्य ग्रन्थस्य गाम्भीर्यं क्वायं वा बालिशो जनः ।
दोर्भ्यां तर्तुमिच्छामि दुस्तरं तन्त्रसागरम् ॥ ५ ॥
दुस्तरे च दुराराध्ये कार्येऽस्मिन्तन्त्रचिन्तने ।
आप्लवन्तं निरालम्बं स्वालम्बं भव मे शुभे ॥ ६ ॥
सर्वान्तर्यामिनि श्लाघ्ये सर्वशक्तिसमन्विते ।
त्रिपुरारहस्यव्याख्यातुं सामर्थ्यं देहि मे शिवे ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-संचालन के जो कारण हैं, परमात्मा में लीन होने का जो आत्यन्तिक सुख है—वही सुख है स्वरूप जिनका; सभी प्राणियों की चेतना में जो प्रतिभासित हैं; संसार की प्रतिछवि को प्रतिबिम्बित करनेवाले दर्पण की तरह हर जगह जो मौजूद हैं—ऐसी त्रिपुरादेवी को सर्वप्रथम मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

अथ ते कथयाम्यद्य ज्ञानखण्डं महाद्भुतम् ।
यच्छ्रुत्वा न पुनः क्वापि मनुष्यः शोकमृच्छति ॥ ३ ॥
वैदिकं वैष्णवं शैवं शाक्तं पाशुपतं तथा ।
विज्ञानं सम्यगालोच्य यदेतत्प्रविनिश्चितम् ॥ ४ ॥
नैतद्विज्ञानसदृशमन्यन्मानसमारुहेत् ।
यथा श्रीदत्तगुरुणा भार्गवाय निरूपितम् ॥ ५ ॥
उपपत्त्युपलब्धिभ्यां समेतं बहु चित्रितम् ।
अत्रोक्तेनापि नो वेद यदि कश्चिद्विमूढधीः ॥ ६ ॥
स केवलं दैवहतः स्थाणुरेव न संशयः ।
न तस्य स्यादपि ज्ञानं साक्षाच्छिवनिरूपितम् ॥ ७ ॥
तत्ते शृणु समाख्यास्ये ज्ञानखण्डात्मना स्थितम् ।
अहो सतामद्भुतं हि वृत्तं सर्वगुणोत्तरम् ॥ ८ ॥

नारदजी ! क्या आपने कभी सावधान होकर देवी त्रिपुरा की महिमा सुनी है ? इनकी महिमा का सुनना ही परममुक्ति का साधन है ॥ २ ॥

विमर्श — इस खण्ड से पूर्व 'माहात्म्य' खण्ड है। माहात्म्य खण्ड में देवी त्रिपुरसुन्दरी की महिमा का वर्णन है। उस महिमा को सुनने से मनुष्य के हृदय में उन्हें जानने की जिज्ञासा जगती है। यह जिज्ञासा उसे ज्ञान-प्राप्ति का अधिकार देती है। ऐसे अधिकारी 'मुमुक्षु' व्यक्ति के लिए ही इस ज्ञानखण्ड की उपयोगिता है। इसीलिए यहाँ यह ज्ञानखण्ड प्रारम्भ किया जाता है। यह कथा मुनि श्रीहारितायन ने नारदजी को सुनायी है।

अब मैं तुम्हें अतिविस्मयजनक यह 'ज्ञानखण्ड' सुनाता हूँ। इसे सुनकर मनुष्य फिर कभी 'जन्म-मरण' के दुःख से दुःखी नहीं होता है ॥ ३ ॥

वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त, पाशुपत और चौदहों विद्याओं के दार्शनिक तथ्यों का सम्यक् विवेचन करने के बाद इस सिद्धान्त का निष्पादन किया गया है ॥ ४ ॥

मन को जँचनेवाला ऐसा कोई दूसरा विवेचन नहीं है। भृगुपुत्र परशुराम को समझाने के क्रम में सद्गुरु दत्तात्रेय ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ॥ ५ ॥

युक्तिपूर्ण प्रतिपादन एवं प्रत्यक्ष बोध के बावजूद यदि कोई मन्दमति इसे न समझ पाये ॥ ६ ॥

तो फिर ऐसी वस्तु जिसका सरल ढंग से चित्र खींचकर सामने रख दिया गया हो वह भी समझ से परे हो जाय तो उसे निःसन्देह भाग्यहीन और कोरा ठूँठ ही समझना चाहिए। क्योंकि ऐसे मन्दमति को साक्षात् शिव भी परमार्थ का ज्ञान नहीं दे सकते ॥ ७ ॥

अच्छा तो सुनो, अब मैं तुम्हें इस ज्ञानखण्ड के रूप में वर्णित उस ज्ञान का बोध कराता हूँ। अहो, सज्जनों का चरित्र बड़ा ही अनोखा और सबसे बढ़कर होता है।

यन्मत्तोऽप्येष देवर्षिः शुश्रूषत्यपि किञ्चन ।
अनुग्राहकता चैषा सतां सहजसम्भवा ॥ ९ ॥
यथा घ्राणोल्लासकता मृगनाभेः स्वतः स्थिता ।
एवं दत्तात्रेयमुखाच्छ्रुत्वा माहात्म्यवैभवम् ॥ १० ॥
रामः सर्वजनारामो जामदग्न्यः शुभाशयः ।
भक्त्यापहृतसच्चित्तस्तूष्णीं किञ्चिद् बभूव ह ॥ ११ ॥
अथासाद्य बहिर्वृत्ति भरितानन्दलोचनः ।
रोमाञ्चपीवरवपुः स्वान्तरानन्दनिर्भरः ॥ १२ ॥
हर्षोऽमायन् रोमकूपविभेदान्निर्गमन्निव ।
प्रणनाम दत्तगुरुं दण्डवच्चरणान्तिके ॥ १३ ॥
उत्थाय हर्षभरितः प्राह गद्गदसुस्वरः ।
धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं श्रीगुरो त्वत्प्रसादतः ॥ १४ ॥
यस्य मे करुणासिन्धुस्तुष्टः साक्षाद्गुरुः शिवः ।
यस्मिंस्तुष्टे ब्रह्मपदमपि स्यात् तृणसम्मितम् ॥ १५ ॥
मृत्युरप्यात्मतां याति यस्मात्तुष्टाद् गुरोर्ननु ।
ममाकाण्डादेव गुरुः सोऽद्य तुष्टो महेश्वरः ॥ १६ ॥

तभी तो मेरे जैसे सामान्यजन को भी देवर्षि स्वयं थोड़ी-बहुत यह ज्ञान-कथा सुनाना चाहते हैं। ऐसी कृपा सज्जनों का सहज स्वभाव ही तो होता है; ठीक उसी तरह जैसे कस्तूरी में सुगन्ध फैलाने की शक्ति अपने आप होती है। इस तरह दत्तात्रेय के मुख से त्रिपुरा की महिमा का वैभव सुनकर ॥ ८–१० ॥

सबके लिए आनन्दप्रद, सबके शरणस्थल जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने उस पराशक्ति की भक्ति में खिंचे हृदय कुछ क्षण के लिए मौन साध लिये ॥ ११ ॥

फिर बाहरी अवस्था में लौट आने पर उनकी आँखों से आँसू छलकने लगे, देह रोमांचित हो गयी तथा हृदय आनन्द के सागर में गोते लगाने लगा ॥ १२ ॥

हर्षजन्य रोमाञ्च के बहाने उनका आन्तरिक प्रेम मानो बाहर छलक पड़ा हो। उन्होंने अपने गुरु दत्तात्रेयजी के चरणों में डंडे की तरह धरती पर गिरकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥ १३ ॥

फिर उठकर प्रेमातिरेक के कारण भरे गले से उन्होंने कहा—हे गुरुदेव ! आपकी दया से आज मैं निहाल हो गया, भाग्यशाली बन गया ॥ १४ ॥

प्रत्यक्षतः भगवान् शिव के स्वरूप मेरे परमदयालु गुरु मुझ पर परम प्रसन्न हुए हैं, अतः उनकी प्रसन्नता के सामने मुझे मुक्ति भी तिनके की तरह तुच्छ प्रतीत होती है ॥ १५ ॥

जिस परम गुरु की कृपा से मौत भी मीत बन जाती है, आज साक्षात् शिवस्वरूप परम दयालु गुरु अकारण मुझ पर प्रसन्न हुए हैं ॥ १६ ॥

मन्ये सर्वं मया प्राप्तमित्येव कृपया गुरोः ।
नाथ माहात्म्यमखिलं श्रुतं त्वत्कृपयाधुना ॥ १७ ॥
तामुपासितुमिच्छामि त्रिपुरां परमेश्वरीम् ।
तदुपास्तिक्रमं ब्रूहि मह्यं सुकृपया गुरो ॥ १८ ॥
इति सम्प्रार्थितो दत्तगुरुरालक्ष्य भार्गवे ।
योग्यतां त्रिपुरोपास्तौ सच्छ्रद्धाभक्तिबृंहिताम् ॥ १९ ॥
क्रमेण दीक्षयामास त्रिपुरोपास्तिहेतवे ।
जामदग्न्योऽपि सम्प्राप्य त्रैपुरं दीक्षणं शुभे ॥ २० ॥
सर्वदीक्षासमधिकं पूर्णतत्त्वप्रबोधनम् ।
मन्त्रयन्त्रवासनाभिरन्वितमखिलं क्रमम् ॥ २१ ॥
प्राप्य श्रीगुरुवक्त्राब्जाद्रसं मधुकरो यथा ।
तृप्तान्तरङ्ग आनन्दमादितो भार्गवस्तदा ॥ २२ ॥
श्रीनाथेनाभ्यनुज्ञातस्त्रिपुरासाधनोद्यतः ।
परिक्रम्य गुरुं नत्वा महेन्द्राद्रिमुपाययौ ॥ २३ ॥
तत्र निर्माय वसतिं शुभामतिसुखावहाम् ।
अभूदुपासनपरो वर्षद्वादशकं तदा ॥ २४ ॥

हे नाथ ! कृपापूर्वक आपने मुझे त्रिपुरा देवी की सारी महिमा सुना दी। मैं मानता हूँ आपकी दया से आज मुझे सब कुछ मिल गया ॥ १७ ॥

हे गुरुदेव ! मैं भगवती त्रिपुरा की आराधना करना चाहता हूँ। अतः उनकी उपासना कैसे करूँ ? कृपया उसका ढंग भी बतला दें ॥ १८ ॥

परशुरामजी की ऐसी प्रार्थना सुनकर दयालु गुरु दत्तात्रेय ने समझ लिया कि त्रिपुरा देवी के प्रति इनकी श्रद्धा और भक्ति हार्दिक है। अतः अब ये उनकी उपासना के अधिकारी हैं। फिर उन्होंने इन्हें क्रमशः त्रिपुरोपासना की दीक्षा दी ॥ १९½ ॥

फिर शुभमुहूर्त में सर्वश्रेष्ठ एवं परमतत्त्व का बोध करानेवाली दीक्षा परशुराम ने ग्रहण की। भौंरा जैसे पद्मपराग पीकर मस्त हो जाता है, उसी तरह परशुराम ने गुरुमुख से उपासना के सभी क्रम मन्त्र एवं यंत्र के साथ सीखकर आनन्दातिरेक में आत्मतुष्ट हो गये ॥ २०–२२ ॥

फिर बतलायी गयी विधि के अनुसार देवी त्रिपुरा की उपासना में दत्तचित्त भृगुपुत्र परशुराम ने पहले परिक्रमापूर्वक गुरु को प्रणाम कर, उनकी आज्ञा लेकर महेन्द्र पर्वत पर उपासना के लिए प्रस्थान किया ॥ २३ ॥

वहाँ उन्होंने सर्वप्रथम एक सुन्दर एवं सुखद कुटिया बनायी। फिर बारह वर्षों के लिए देवी त्रिपुरा की उपासना में तल्लीन हो गये ॥ २४ ॥

नित्यनैमित्तिकपरः पूजाजपपरायणः ।
सदा श्रीत्रिपुरेशान्या मूर्त्तिध्यानैकतत्परः ॥ २५ ॥
एवं तस्यात्यगात्कालो द्वादशाब्दो निमेषवत् ।
अथैकदा सुखासीनो जामदग्न्योऽनुचिन्तयत् ॥ २६ ॥
पुरा यत्प्राह संवर्तो मया स्वभ्यर्थितः पथि ।
तन्मया नैव विदितमंशेनापि तदा ननु ॥ २७ ॥
विस्मृतञ्च मया यस्मात्प्राङ् न पृष्टं गुरुं प्रति ।
माहात्म्यं त्रिपुराशक्तेः श्रुतं श्रीगुरुवक्त्रतः ॥ २८ ॥
परन्तु तन्न विदितं यत्संवर्त्तः पुराऽब्रवीत् ।
मया सृष्टिप्रसङ्गेन पृष्टं किञ्चिद् गुरुं प्रति ॥ २९ ॥
तदा कटकृदाख्यानं वर्णयित्वा च मे गुरुः ।
नाब्रवीदप्रकृततस्तन्मे तत्तादृशं स्थितम् ॥ ३० ॥

यहाँ परशुराम ने विधिवत् नित्यकर्म अर्थात् संध्या, पंचयज्ञ, स्नानादि प्रतिदिन किया जानेवाला विहित कर्म तथा नैमित्तिक अर्थात् किसी विशेष उद्देश्य से किये जानेवाले अनुष्ठान करते हुए, देवी की पूजा और इष्ट मंत्र का जप करते हुए निरन्तर भगवती त्रिपुरसुन्दरी के ध्यान में मग्न हो गये ॥ २५ ॥

इस तरह पलक मारते उनकी बारह साल की लम्बी अवधि बीत गयी। फिर एक दिन भगवती के ध्यान में मस्त सुखपूर्वक बैठे हुए जमदग्निपुत्र परशुराम ने सोचा ॥ २६ ॥

पहले कभी राह चलते मैंने महर्षि संवर्त्त से कुछ सवाल किया था। उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा था, उस समय वह मेरी समझ में कुछ नहीं आया ॥ २७ ॥

फिर उसे मैं बिलकुल ही भूल गया। इसीलिए गुरुदेव से भी नहीं पूछ सका। हाँ, गुरुमुख से मैंने भगवती त्रिपुरा की महिमा अवश्य सुनी है ॥ २८ ॥

पहले महर्षि संवर्त्त ने मुझसे इस संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ कहा था। उस समय यह बात मेरी समझ में बिलकुल नहीं आयी थी। मैंने गुरुदेव से भी इसके बारे में कभी कुछ पूछा था।

उस समय उन्होंने इसे 'चटाई बुनकर की कहानी' कहकर मुझे टरका दिया था। यह बात उस समय अप्रासंगिक होने के कारण वहीं दब गयी थी ॥ ३० ॥

विशेष—'कटकृत्-आख्यान' का तात्पर्य है—कटकृत् अर्थात् चटाई बुननेवाला और आख्यान का अर्थ है—कहानी। अर्थात् चटाई बुननेवाला चटाई बुनता रहता है और साथ बैठे लोगों को अप्रासंगिक रूप से कुछ कहानियाँ सुनाता रहता है। उसे ही 'कटकृत्-आख्यान' कहते हैं। उस समय उन्होंने विषयवस्तु की गम्भीरता और मेरी अयोग्यता को ध्यान में रखकर ही इसे टाल दिया था।

लोकस्य गतिमेतान्तु न जानाम्यपि लेशतः।
कस्मादिदं समुदितं जगदाडम्बरं महत्॥ ३१॥
कुत्र वा गच्छति पुनः कुत्र संस्थानमृच्छति।
अस्थिरन्तु प्रपश्यामि सर्वं सर्वत्र किञ्चन॥ ३२॥
व्यवहारः स्थिरप्रायः कस्मादेतदपीदृशम्।
चित्रां जगद्व्यवहृतिं प्रपश्याम्यविमर्शिनीम्॥ ३३॥
अहो यथान्धानुगतो ह्यन्धश्चेष्टति तादृशः।
लोकस्य व्यवहारो वै सर्वस्याप्यभिलक्षितः॥ ३४॥

किन्तु मुझे संसार की गतिविधि का थोड़ा भी ज्ञान नहीं है। अचानक यह इतना बड़ा विश्वप्रपंच कहाँ से खड़ा हो गया॥ ३१॥

इस भागदौड़ की दुनिया में सभी भागते नजर आ रहे हैं। ये अपना ठहराव कहाँ चाहते हैं। जहाँ भी जो कुछ है, सब-के-सब भागते ही नजर आते हैं॥ ३२॥

फिर इस नश्वर जगत् में अपने-पराये का व्यवहार कैसा? स्थायित्व-विहीन संसार का यह व्यवहार मुझे बड़ा ही विचित्र लगता है। ये विचार ही विचारहीन प्रतीत होते हैं॥ ३३॥

विशेष—यहाँ वीराग्रणी परशुराम का अनुचिन्तन जगत् और जीवन से सम्बद्ध है। नश्वर संसार में जीवन से सम्बन्धित होने लिए जीवन मिल जाने को ही ये पर्याप्त नहीं मानते हैं। इनकी दृष्टि में यह जीवन की भूमिका तो है, लेकिन यही सब कुछ नहीं है। यहाँ से यात्रा शुरू हो सकती है, लेकिन उस पर ही ठहरा नहीं जा सकता है। परन्तु कितने ही ऐसे लोग भी हैं जो प्रस्थान-बिन्दु को ही गन्तव्य मानकर रुक जाते हैं। प्रायः संसार का अधिकांशतः व्यवहार अपने-पराये की पृष्ठभूमि पर यही होता है। कुछ लोग शायद भेद कर लेते हैं, पर उस भेद को जीते नहीं। बहुत कम लोग हैं जो प्रस्थान-बिन्दु और मंजिल में भेद समझकर जीते हैं।

इस चंचल संसार की वास्तविकता की समझ जीवन के अस्तित्व के अनुभव से ही किसी को सच्चे व्यवहार का ज्ञान हो सकता है। हृदय की गहराई से और अनुभव की तीव्रता से ही व्यक्ति संसार को पहचान सकता है। सांसारिक व्यवहार की संवेदना बहुत ही सतही है। जैसे सागर की सतह पर उठी लहरों का न तो कोई स्थायित्व होता है और न कोई दृढ़ता ही होती है। उनका बनना-मिटना चलता ही रहता है। सागर का अन्तःस्थल न तो उससे प्रभावित होता है और न ही परिवर्तित होता है। ऐसी ही स्थिति इस संसार की है।

उसकी कीमत ही क्या जो आज तो है पर कल नहीं होगा। जिसमें पल-पल पर परिवर्तन है उसका मूल्य हो भी क्या सकता है? परिस्थितियों का प्रवाह तो नदी की धारा की तरह है। प्रतिदिन ही कोई-न-कोई मौत के मुँह में गिरता है और दूसरे ऐसे

निदर्शनं ह्यात्मकृतिरत्र मे सर्वथा भवेत् ।
नूनं मम शैशवे किं जातं तन्मे न भावितम् ॥ ३५ ॥
कौमारे चान्यथा वृत्तं तारुण्येऽपि ततोऽन्यथा ।
इदानीमन्यथैवास्ति व्यापारो मम सर्वथा ॥ ३६ ॥
किमभूत्फलमेतेषां तन्न वेद्मि कथञ्चन ।
यद्यत्काले यच्च यच्च क्रियते येन येन वै ॥ ३७ ॥
सम्यगेवेति तद्बुद्ध्वा फलावष्टम्भपूर्वकम् ।
फलं किं तत्र सम्प्राप्तं केन वा सुखमात्मनः ॥ ३८ ॥

खड़े रहते हैं जैसे यह दुर्भाग्य उस पर ही गिरने को था । आप दर्शक बने रहते हैं । यदि व्यक्ति में सत्य को पहचानने की आँखें हो तो दूसरे की मौत में अपनी मृत्यु भी दिखाई देने लगती है । यही सबके साथ होने को है; वस्तुतः हो ही रहा है । हम सब धीरे-धीरे मरते रहते हैं । मरण की यह प्रक्रिया इतनी धीमी है कि जब तक वह अपनी पूर्णता नहीं पा लेती, तब तक प्रकट ही नहीं होती । उसे देखने के लिए विचार की सूक्ष्म दृष्टि चाहिए । इसी दृष्टि की खोज परशुराम को व्यथित कर रही है ।

आश्चर्य की बात तो यह है कि जैसे एक अन्धे के पीछे दूसरा अन्धा चलता है ठीक उसी तरह सारी दुनिया का लोकव्यवहार केवल अन्धानुकरण ही प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥

विशेष—संसार के व्यवहार को जान लेना ही सत्य को जान लेना है । इस पहचान के साथ ही व्यक्ति का दुःख विसर्जित हो जाता है । दुःख संसार के व्यवहार की सही परख के अभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । संसार को सही रूप में जानते ही हम आनन्द के अधिकारी हो जाते हैं । वह जो व्यक्ति के भीतर छिपा है—सच्चिदानन्द है । जीवन और जगत् की सही अनुभूति ही आनन्द है । संसार के स्वरूप को जानना ही सत्य को जानना है । सत्य को जानना आनन्द को पा लेना है ।

औरों की बात तो कुछ और मेरा अपना ही व्यवहार इसका पूरा उदाहरण है । भला ही बचपन में मेरा व्यवहार क्या था ? मैं भूल गया हूँ ॥ ३५ ॥

कुमारावस्था में मेरा व्यवहार कुछ और था और जवानी का कुछ और, फिर आज का मेरा व्यवहार तो उन दोनों से बिलकुल अलग-थलग है ॥ ३६ ॥

किन्तु, मेरे उन व्यवहारों का परिणाम क्या हुआ ? यह मैं बिलकुल नहीं जानता । जग किसी व्यक्ति के द्वारा किसी भी समय जो कुछ भी कर्म उचित समझ कर, परिणाम को सामने रखकर किया जाता है; उनमें से किसी को कोई फल मिला ? उससे क्या कोई सुखी हुआ ? ॥ ३७–३८ ॥

यच्चापि लोके फलवदविमृश्यफलं हि तत् ।
न फलं तदहं मन्ये पुनर्यस्मात्करोति सः ॥ ३९ ॥
प्राप्ते फले फलेच्छावान् पुनर्भूयात्कथं वद ।
यस्मान्नित्यं करोत्येव जनः सर्वः फलेहया ॥ ४० ॥
फलं तदेव सम्प्रोक्तं दुःखहानिः सुखञ्च वा ।
कर्त्तव्यशेषे नो दुःखनाशो वा सुखमेव वा ॥ ४१ ॥
कर्त्तव्यतैव दुःखानां परमं दुःखमुच्यते ।
तत्सत्त्वे तु कथन्ते स्तो दुःखाभावः सुखञ्च वा ॥ ४२ ॥

संसार में 'फल' की तरह जो जान पड़ता है वह फल नहीं है । वह विचारविहीन होने के कारण ही फल जैसा लगता है । मैं उसे फल नहीं मानता, क्योंकि फल के लिए अनवरत उसका प्रयास तो चलता ही रहता है ॥ ३९ ॥

विशेष— परशुरामजी की दृष्टि में यह आश्चर्यजनक है कि व्यक्ति जितना भी कर्म का फल पा ले, फिर भी फल पाने पर जो प्रतीत होता है, वह उतना ही रहता है जितना फल पाने के पूर्व था । इसलिए सम्राटों और भिखारियों का अभाव समान ही होता है । उस तल पर उनमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि तृष्णा दुष्पूर है ।

स्वरूपसंपदा का फल जो नहीं खोजता है वह विपदाओं को ही सम्पदा का फल समझता रहता है । यही सांसारिक व्यवहार की भूल है । परशुराम की दृष्टि में निश्चित रूप से बाहर की कोई भी उपलब्धि अभावों का अभाव नहीं ला सकती है, क्योंकि बाहर का कोई भी फल भीतर के अभाव को कैसे भर सकेगा ? समस्या आन्तरिक है तो बाहरी परिणाम से उसका भराव सम्भव नहीं है । इसीलिए बाहर सब कुछ पाकर भी कुछ भी पाया जैसा प्रतीत नहीं होता है और बाहर सब होकर भी भीतर से व्यक्ति रिक्त रह जाता है । इसी शाश्वत सत्य की ओर परशुरामजी का यहाँ सन्देह एवं आश्चर्य है, जिसे उन्होंने 'फल' शब्द में संकेत किया है ॥ ३९ ॥

किसी कर्म का फल पा लेने के बाद फिर फल पाने की इच्छा क्यों होती है ? सब-के-सब दिन-रात फल पाने की इच्छा से ही किसी-न-किसी कर्म में लगे रहते हैं ॥ ४० ॥

दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति ही तो फल है । जब तक कुछ-न-कुछ करने के लिए शेष बचा ही है तब तक न तो उसे सुख की प्राप्ति कह सकते हैं और न वह दुःख की निवृत्ति ही कही जा सकती है ॥ ४१ ॥

दुःखसमूहों में कर्त्तत्व सबसे बड़ा दुःख है । व्यक्ति में जब तक कर्त्तृत्व बुद्धि बनी रहती है तब तक दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥

विशेष— परशुरामजी की दृष्टि में यहाँ सांसारिक तथा कथित सुख मादक द्रव्यों का काम करता है । वह दुःख से मुक्ति नहीं लाता, केवल दुःखों के प्रति मूर्च्छा भर ला

यथा दग्धाखिलाङ्गस्य पादे पाटीरलेपनम् ।
तथा कर्त्तव्यशेषस्य सुखलाभ इहोच्यते ॥ ४३ ॥
यथा शराविद्धहृदः परिष्वङ्गोऽप्सरोगणैः ।
तथा कर्त्तव्यशेषस्य सुखलाभ इहोच्यते ॥ ४४ ॥
यथा क्षयामयाविष्टनरस्य गीतसंस्तुतिः ।
तथा कर्त्तव्यशेषस्य सुखलाभ इहोच्यते ॥ ४५ ॥
सुखिनस्ते हि लोकेषु ये कर्त्तव्यतया स्थिताः ।
पूर्णाशया महात्मानः सर्वदेहसुशीतलाः ॥ ४६ ॥
यदि कर्त्तव्यशेषेऽपि सुखं स्यात्केनचित्क्वचित् ।
शूलप्रोतेऽपि च नरे स्यात्सुखं गन्धमाल्यजम् ॥ ४७ ॥

देता है । इसे परशुरामजी संसार का सम्बन्ध रूप मात्र ही मानते हैं । साधारण रूप से सांसारिक सुख के नाम से जाने जानेवाले सुख का आभास है । निश्चय ही यह सुख क्षणिक है । यह सुख तो दुःख-विस्मरण की एक चित्तस्थिति है । यह तो दुःख से उत्पन्न होता है और दुःख को भुलाने के उपाय से ज्यादा कुछ नहीं है । परशुराम का सुख व्यक्ति के आन्तरिक आनन्द का परिणाम है । उससे दुःख विस्मृत नहीं होता प्रत्युत् उसकी अभिव्यक्ति ही दुःख की मुक्ति पर होती है । यह मादकता नहीं अपितु परिपूर्ण जागरण है । जो चेतना दुःख-विस्मरण नहीं, दुःख-विसर्जन की दिशा में चलती है, वही असली सुखसम्पदा की मालिक बनती है जिसे सुख कहा जाता है ।

भीतरी आनन्द ही बाहरी सुख का प्रतिफलन है । वस्तुतः जो भीतर आनन्द है, वही बाहर सुख है । वे दोनों दो नहीं हैं, बल्कि एक ही अनुभूति की दो प्रतीति हैं । आनन्द केन्द्र है और सुख परिधि है । ऐसा सुख कोई सम्बन्ध नहीं, स्वभाव होता है । सुख के इस स्वरूप में संसार का कोई आकर्षण नहीं, आन्तरिक प्रवाह है । संसार से इसका न कोई लगाव है और न कुछ अपेक्षा । यह संसार से मुक्त एवं स्वतंत्र है । इस सुख को ही परशुराम सुख मानते हैं ।

इस संसार में कर्त्तव्यशेष व्यक्ति को सुख का लाभ बतलाना ठीक उसी प्रकार है जैसे किसी की सारी देह आग में झुलस जाय और उसके पैर पर चन्दन का लेप चढ़ा कर शीतलता की अनुभूति समझाई जाय ॥ ४३ ॥

बाणों की मार से जिसकी छाती छलनी हो गई हो, उसे अप्सरा के आलिङ्गन-सुख का बोध कराने जैसा कर्त्तव्यशेष व्यक्ति के लिए सुखबोध कराना है ॥ ४४ ॥

कर्त्तव्यशेष व्यक्ति को संसार में सुख-प्राप्ति बतलाना ठीक वैसा ही प्रयास है जैसे क्षयरोग-ग्रसित व्यक्ति को संगीत द्वारा स्तुति की महिमा बतलाई जाय ॥ ४५ ॥

संसार में वे ही सुखी हैं जो कर्त्तव्य-भार से मुक्त हैं । वे पूर्णकाम महात्मा हैं । उनके भीतर-बाहर सभी अंग सुशीतल हैं ॥ ४६ ॥

कर्त्तव्य का बोझ सिर पर लादे व्यक्ति को यदि सुख की अनुभूति सम्भव हो

अहो महच्चित्रमेतत् कर्त्तव्यशतसङ्कुले ।
सुखमस्तीह यस्यार्थे करोत्येव सदा जनः ॥ ४८ ॥
अहोऽविचारमाहात्म्यं किं वदामि नृणामहम् ।
अनन्तकर्त्तव्यशैलाक्रान्ताः सौख्यं लभन्ति च ॥ ४९ ॥
तथा सौख्याय यतते सार्वभौमस्तु सर्वदा ।
तथैव यतते नित्यमपि भिक्षाटने रतः ॥ ५० ॥
पृथक् तौ प्राप्नुतः सौख्यं मन्येते कृतकृत्यताम् ।
तद्येन यान्ति सर्वेऽपि याम्यहंताननुक्रमात् ॥ ५१ ॥

तो फिर शूली से बिंधे लोगों को चन्दन और माला की सुखानुभूति भी तो हो सकती है ॥ ४७ ॥

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सैकड़ों काम के भार से लदे होने पर भी लोग समझते हैं कि यही सुख है और वे इसी सुख के लिए सदैव प्रयत्नशील भी बने रहते हैं ॥ ४८ ॥

आश्चर्य है ! लोगों के इस विचार की महिमा का कहाँ तक बखान करूँ ? अनगिनत कर्त्तव्य रूपी पहाड़ों के नीचे दबे रहकर भी मनुष्य अपने को सुखी मानता है ॥ ४९ ॥

जैसे एक सार्वभौम सम्राट् निरन्तर सुख की खोज में लगा रहता है, ठीक उसी प्रकार एक भिखारी भी सुख की खोज में ही लगा रहता है ॥ ५० ॥

और दोनों को अलग-अलग अपने ढंग से सुख भी मिलते हैं, जिन्हें पाकर वे अपने को धन्य मानते हैं। तो फिर जैसे सभी चल रहे हैं, उन्हीं का अनुक्रमण मैं भी करूँ ॥ ५१ ॥

विशेष—यहाँ परशुरामजी आश्चर्यचकित हैं कि सब कुछ पाकर भी संसार में कुछ नहीं पाने की तरह है। इसीलिए उनकी दृष्टि में सम्राटों और भिखारियों का कुछ पाना या खोना समान ही प्रतीत होता है।

फिर सांसारिक सुख की दिशा में जो मिला हुआ भी मालूम देता है, उसकी भी कोई सुरक्षा नहीं है, क्योंकि किसी क्षण वह छिन सकता या नष्ट हो सकता है। अन्ततः मृत्यु तो उसे छीन ही लेती है। जो सुख छीना जा सकता है, उसे हमारा अन्तर्हृदय कभी भी अपना न मान पाता हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? इसीलिए सांसारिक सुख सुरक्षा या अन्तःशान्ति नहीं दे पाता है। उल्टे हमें ही उसकी सुरक्षा करनी पड़ती है।

सांसारिक सुख और उससे सम्बन्धित सुविधाओं और शक्तियों से न दुःख मिटता है, न असुरक्षा मिटती है, न भय मिटता है। इसीलिए उनके मिथ्या आश्वासन में ज्यादा-से-ज्यादा किसी व्यक्ति का कुछ क्षण के लिए दुःख भुला भर रह सकता है।

अनालोच्य फलश्चापि यथान्धोऽन्धानुगस्तथा ।
तदलं मेधयानेन भूयो गत्वा दयानिधिम् ।। ५२ ।।
विजिज्ञासितजिज्ञास्यो विचिकित्साम्बुधेः परम् ।
पारं प्रपत्स्ये सुशुभं गुरुवाक्प्लवमाश्रितः ।। ५३ ।।
इति व्यवस्य सहसा जामदग्न्यः शुभाशयः ।
प्रतस्थे तद्गिरित्रराड् गुरुदर्शनकाङ्क्षया ।। ५४ ।।
गन्धमादनशैलेन्द्रं प्राप्य शीघ्रमपश्यत ।
गुरुं पद्मासनासीनं भूभास्वन्तमिव स्थितम् ।। ५५ ।।
प्रणनाम पादपीठं पुरतो भुवि दण्डवत् ।
शिरसाऽपीडयत्पादपद्मं निजकराश्रितम् ।। ५६ ।।

इसीलिए सांसारिक सुख को मद कहा जाता है। इसी की मादकता में जीवन के वास्तविक सुख के दर्शन नहीं हो पाते हैं और दुःख का इस तरह विस्मरण दुःख से भी बदतर है; क्योंकि इसी के कारण दुःख को मिटाने की वास्तविक दिशा में दृष्टि नहीं उठ पाती है।

जीवन में जो दुःख है वह किसी वस्तु, शक्ति या सम्पदा के न होने के कारण नहीं है; क्योंकि उन सबों के मिल जाने पर भी दुःख मिटते नहीं देखा जा सकता है। सुख में और सुख होने के भ्रम में बहुत ही अन्तर है। संसार की सम्पत्ति, सुख और सुरक्षा—सभी उस वास्तविक सुख की छाया भर हैं, जो भीतर हैं और भीतर परखने की शक्ति तब तक जागरूक नहीं होगी जब तक व्यक्ति को सांसारिक कर्त्तव्यभार से मुक्ति न मिल जाय। ऊपर के श्लोकों में परशुरामजी का यही दार्शनिक अनुचिन्तन है ।। ५२ ।।

तो फिर क्या परिणाम पर विचार किये बिना अन्धे के पीछे चलनेवाले अन्धे की तरह मैं भी उसी का अनुसरण करूँ? अथवा अपनी बुद्धि के अनुसार उस अविचार को छोड़ कर फिर अपने दयासागर गुरुदेव के पास ही चलूँ ।। ५२ ।।

और ज्ञानप्राप्ति के लिए जानने योग्य वस्तु की पूछ-ताछ कर, उनके वचनरूपी नौका का सहारा लेकर मैं इस अनिश्चयरूपी सागर के उस पार पहुँच जाऊँगा जो सब तरह से मंगलमय है ।। ५३ ।।

ऐसा निश्चय कर मांगलिक अभिप्रायवाले परशुराम ने गुरुदर्शन की लालसा से महेन्द्र पर्वत पर से प्रस्थान किया ।। ५४ ।।

महेन्द्र पर्वत से शीघ्र ही पर्वतराज गन्धमादन पर पहुँचकर परशुराम ने धरती पर सूर्य की तरह प्रदीप्त पद्मासन में बैठे अपने गुरुदेव को देखा ।। ५५ ।।

वहाँ उन्होंने सर्वप्रथम गुरुदेव के ऊँचे आसन के पास पैर रखने की छोटी चौकी अथवा खड़ाऊँ के सामने धरती पर लेटकर साष्टांग प्रणाम किया और फिर अपने हाथों में उनके पैरों को रखकर उन पर अपना माथा टेक दिया ।। ५६ ।।

अथैवं प्रणतं रामं दत्तात्रेयः प्रसन्नधीः ।
आशीर्भिर्योजयामास समुत्थापयदादरात् ॥ ५७ ॥
वत्सोत्तिष्ठ चिरादद्य त्वां पश्यामि समागतम् ।
ब्रूहि स्वात्मभवं वृत्तं निरामयतया स्थितम् ॥ ५८ ॥
अथोत्थाय गुरूक्त्या स गुर्वादिष्टाग्र्यविष्टरः ।
उपविश्य प्रसन्नात्मा बद्धाञ्जलिपुटोऽब्रवीत् ॥ ५९ ॥
श्रीगुरो ! करुणासिन्धो ! त्वत्कृपामृत आप्लुतः ।
कथं स परिभूयेत विधिसृष्टैरथामयैः ॥ ६० ॥
त्वत्कृपात्मामृतकरमण्डलान्तःस्थितन्तु माम् ।
सन्तापयेत्कथं व्याधिश्चण्डांशुरतिभीषणः ॥ ६१ ॥
आन्तरं बाह्यमपि ते कृपयानन्दितं मम ।
सदा स्थितं किन्तु भवत्पादाब्जवियुतिं विना ॥ ६२ ॥
नान्यद्रुजावहं किञ्चिदासीन्मे लेशतः क्वचित् ।
तद्भवच्चरणाम्भोजदर्शनादद्य वै पुनः ॥ ६३ ॥
सम्पूर्णता सदापन्ना सर्वथा श्रीगुरो ननु ।
तत् किञ्चिच्चिरसंवृत्तं हृदि मे परिवर्त्तते ॥ ६४ ॥

इस प्रकार प्रणाम करते परशुराम को देखकर गुरु दत्तात्रेय ने उन्हें आदरपूर्वक उठा लिया । हृदय से प्रसन्न होते हुए इन्हें अनेक आशीर्वाद दिये ॥ ५७ ॥

उठो बेटे, बहुत दिनों के बाद आज तुमसे भेंट हुई है । अपनी बातें बतलाओ; स्वस्थ तो हो न ? ॥ ५८ ॥

गुरु के ऐसा कहने पर परशुरामजी उठे तथा उनके बताये गये आसन पर बैठकर हाथ जोड़ कर बोले ॥ ५९ ॥

हे कृपासिन्धु ! आपकी दया के सागर में जिसने एक बार गोता लगा लिया, भला विधि-निर्मित रोग उसे क्या सता सकते हैं ? ॥ ६० ॥

मैं तो आपके कृपारूपी चन्द्रमण्डल के बीच में बैठा हूँ । फिर प्रखर किरण वाले प्रचण्ड सूर्य रूपी रोग मुझे कैसे संतप्त कर सकता है ॥ ६१ ॥

आपके चरणों से अलग रहने के सिवा और दुःख ही मुझे क्या है ? आपके परम कृपारूपी आनन्दसागर में मैं भीतर-बाहर पूर्णतः सराबोर हूँ ॥ ६२ ॥

और कोई दूसरा रोग मेरी देह में कहीं कुछ भी नहीं है । सो आज आपके चरणारविन्दों के दर्शन से फिर मैं निहाल हो गया ॥ ६३ ॥

श्रीगुरुदर्शन से आज वह कमी भी सर्वतोभावेन पूरी हो गयी । फिर भी बहुत दिनों से एक बात मेरे मन में खटकती रही है ॥ ६४ ॥

तत्प्रष्टुं त्वाभिवाञ्छामि चिरसंशयितान्तरः ।
आज्ञप्तो भवताद्याहं पृच्छामि विचिकित्सितम् ॥ ६५ ॥
संश्रुत्यैवं भार्गवोक्तिं दत्तात्रेयो दयानिधिः ।
सम्प्रहृष्टमना राममूचे प्रीत्याथ भार्गवम् ॥ ६६ ॥
पृच्छ भार्गव यत्तेऽद्य प्रष्टव्यं चिरसम्भृतम् ।
तव भक्त्या प्रसन्नोऽस्मि प्रब्रवीमि तवेप्सितम् ॥ ६७ ॥

इति श्रीमदितिहासोत्तमे त्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे
भार्गवप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः ।

विशेष— परशुरामजी भीतर-बाहर से अपने को आनन्दमय बतलाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा यही आनन्द चाहती है— पूर्ण आनन्द, क्योंकि तभी सभी चाहों का विश्राम आ सकता है। जहाँ चाह है वहीं दुःख है, क्योंकि वहाँ अभाव है। आत्मा सब अभावों का अभाव चाहती है। अभाव का पूर्ण अभाव ही आनन्द है। वहीं स्वतन्त्रता भी है और मुक्ति भी। क्योंकि जहाँ कोई भी अभाव है वहीं बन्धन है, सीमा है, परतंत्रता है। अभाव जहाँ नहीं है, वहीं परममुक्ति में प्रवेश है। आनन्द ही मोक्ष है और मुक्ति ही आनन्द है। हमारी जो परम आकांक्षा है, वही हमारा आत्यन्तिक स्वरूप है। वही असली आनन्द है।

यही कारण है कि मेरा मन बहुत दिनों से संदेह से घिरा रहता है। यदि आपकी आज्ञा हो तो इस सम्बन्ध में मैं आपके सामने कुछ प्रश्न रखूँ ॥ ६५ ॥

परशुराम की बातों से गुरुदत्तात्रेय ने अत्यन्त सन्तुष्ट होकर भृगुनन्दन परशुराम से कहा ॥ ६६ ॥

हे परशुराम ! तुम्हारे मन में जो बहुतों दिनों से संचित संदेह है, वह पूछ लो। मैं तुम्हारी भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम जो चाहते हो पूछो, मैं तुम्हें बतलाऊँगा ॥ ६७ ॥

प्रथम अध्याय समाप्त ।

द्वितीयोऽध्यायः

प्रश्रयावनतो भूत्वा सम्प्रष्टुमुपचक्रमे ।
इत्याज्ञप्तो जामदग्न्यः प्रणम्यात्रिसुतं मुनिम् ॥ १ ॥
भगवन् गुरुनाथार्य सर्वज्ञ करुणानिधे ।
पुरा मे नृपवंशेषु क्रोधः कारणतो ह्यभूत् ॥ २ ॥
तद्भूयो निहतं क्षात्रं सगर्भं सस्तनन्धयम् ।
मया त्रिःसप्तकृत्वो वै क्षत्रासृग्भरिते ह्रदे ॥ ३ ॥
सन्तर्पिताः पितृगणास्तुष्टा मद्भक्तिगौरवात् ।
मत्क्रोधं शामयामासुः शान्तः पित्राज्ञयाप्यहम् ॥ ४ ॥
सम्प्रत्ययोध्यामध्यास्ते यः श्रीरामो हरिः स्वयम् ।
क्रोधान्धस्तेन भूयोऽहं सङ्गतो बलदर्पितः ॥ ५ ॥
तेन दर्पाद्भगवता च्यावितश्च पराजितः ।
जीवन्कथञ्चिन्निर्यातो ब्रह्मण्येनानुकम्पिना ॥ ६ ॥
अथ मामुपसम्प्राप्तो निर्वेदः परिभावितम् ।
ततोऽत्यन्तं पथि मया बहुधा परिदेवितम् ॥ ७ ॥

(परशुराम का प्रश्न एवं गुरुदेव का आश्वासन)

इस तरह आदेश मिलने पर परशुरामजी ने महर्षि अत्रि के पुत्र दत्तात्रेय को प्रणाम किया और फिर अति विनम्र होकर उनसे पूछना प्रारम्भ किया ॥ १ ॥

भगवन् ! आप मेरे गुरुदेव है, अधीश्वर और आचार्य हैं; आप दया के सागर हैं, आप सब कुछ जानते हैं। बहुत पहले की बात है—एक खास कारण से मुझे क्षत्रिय जाति के प्रति अत्यधिक क्रोध हुआ था ॥ २ ॥

मैंने इक्कीस बार धरती को क्षत्रिय रहित कर दी थी। पेट में पलते बच्चे से लेकर दूधमुँहे बच्चे तक की मैंने हत्या कर दी थी। उनके खून से ताल-तलैये भर डाले थे ॥ ३ ॥

मैंने क्षत्रियों के खून से अपने पितरों का तर्पण किया। मेरी भक्ति से वे मुझ पर काफी प्रसन्न हुए। उनकी आज्ञा से क्षत्रियों के प्रति मेरा क्रोध शान्त हो गया ॥ ४ ॥

फिर मुझे पता चला कि स्वयं भगवान् विष्णु राम के रूप में अयोध्या में मौजूद हैं। अपने बल के घमण्ड में चूर क्रोध से पागल बना मैं उनसे जा टकराया ॥ ५ ॥

उन्होंने मुझे पराजित कर मेरा घमण्ड चूर-चूर कर दिया। वे परम दयालु थे, ब्राह्मणों के भक्त थे। इसीलिए किसी तरह उन्होंने मुझे जिन्दा छोड़ दिया ॥ ६ ॥

इस तरह पराजित होने पर मुझे बड़ी निराशा हुई। लौटते समय सारी राह मैं पछताता रहा ॥ ७ ॥

संवर्त्तमवधूतेन्द्रं मार्गेऽकस्मात्तमासदम् ।
भस्मच्छन्नाग्निवद् गूढं कथञ्चिदविदन्तदा ॥ ८ ॥
सन्तप्त इव नीहारं तं सर्वाङ्गसुशीतलम् ।
सङ्गम्यैवातिशिशिरभावमासादयन्तदा ॥ ९ ॥
मया स्वस्थितिमापृष्टः प्राहामृतसुपेशलम् ।
सुसारपिण्डवत्सर्वं निष्कृष्य प्रत्यपादयत् ॥ १० ॥
नाहं तदशकं स्प्रष्टुं रङ्को राज्ञीं यथा तथा ।
भूयः सम्प्रार्थितः सोऽथ भवन्तं मे विनिर्दिशत् ॥ ११ ॥
तद्भवच्चरणद्वन्द्वं तत आसादितं मया ।
अन्धो जनसमायोगमिवात्यन्तसुखावहम् ॥ १२ ॥
तन्मे न विदितं किञ्चित्संवर्त्तमुनिराह यत् ।
श्रुतं माहात्म्यमखिलं त्रिपुराभक्तिकारकम् ॥ १३ ॥
सा भवद्रूपिणी देवी हृदि नित्यं समाहिता ।
एवं मे वर्त्तमानस्य किं फलं समवाप्यते ॥ १४ ॥
भगवन् कृपया ब्रूहि यत्संवर्त्तः पुरावदत् ।
अविदित्वा च तन्नास्ति क्वचिच्च कृतकृत्यता ॥ १५ ॥

अचानक रास्ते में मेरी मुलाकात महान् अवधूत संवर्त्तजी से हुई । राख से ढकी दहकते अंगारे की तरह वे अपना तेज अपने भीतर छिपाये थे । बड़ी मुश्किल से मैंने उन्हें पहचाना ॥ ८ ॥

चिलचिलाती धूप में झुलसे व्यक्ति को जैसे सहसा शीतल कुहासे के आ जाने से शान्ति मिलती है, उन्हें पाकर मुझे कुछ वैसे ही सुखशान्ति की अनुभूति हुई ॥ १० ॥

मैंने जब उनसे उनकी स्थिति के बारे में पूछा तो उन्होंने अमृत की तरह मीठे वचनों में मुझे समग्र शास्त्रों का तत्त्व बतला दिया ॥ १० ॥

किन्तु जैसे एक भिखारी राजलक्ष्मी को ग्रहण नहीं कर पाता, ठीक उसी तरह उनकी एक भी बात मेरी समझ में नहीं आयी । फिर जब मैंने उनसे दुबारा समझाने की विनती की तो सीधे उन्होंने मुझे आपके पास भेज दिया ॥ ११ ॥

अतः मैं आपके चरणों में उसी तरह शरणागत हूँ जैसे कोई अकेला भटकता अन्धा जनसमूह में सुखद अनुभूति पाता है ॥ १२ ॥

मुनि संवर्त्त ने जो कुछ कहा वह तो मेरे पल्ले कुछ न पड़ा । भगवती त्रिपुरा में भक्ति जगानेवाली उनकी महिमा आपके मुखारविन्द से पहले अवश्य सुनी थी ॥१३॥

मैं भगवती त्रिपुरा को आपके रूप में ही अपने हृदय में सदैव विद्यमान पाता हूँ । इस स्थिति में रहते हुए मुझे किस फल की प्राप्ति होगी ? ॥ १४ ॥

तदुक्तमविदित्वा तु यद्यच्च क्रियते मया ।
तद्बालक्रीडनमिव प्रतिभाति समन्ततः ॥ १६ ॥
पुरा मया हि बहुशः क्रतुभिर्दक्षिणोच्छ्रयैः ।
प्रभूतान्नगणैरिष्टा देवाः शक्रमुखा ननु ॥ १७ ॥
तदल्पफलमेवेति श्रुतं संवर्त्तवक्त्रतः ।
मन्ये तदहमल्पं यद् दुःखमेवेति सर्वथा ॥ १८ ॥
असुखं नहि दुःखं स्याद् दुःखमल्पं सुखं स्मृतम् ।
यतः सुखात्यये दुःखं भवेद् गुरुतरं किल ॥ १९ ॥
नैतावदेव चैतस्मादधिकं चास्ति वैभवम् ।
मृत्यूपयोगो यद्भूयो न तन्न स्यात्कदाचन ॥ २० ॥
एवमेव भवेद्यन्मे क्रियते त्रिपुराविधौ ।
बालक्रीडेव मे भाति सर्वं तन्मानसं यतः ॥ २१ ॥
एतद् यदुक्तं भवता कर्त्तुं तस्यादितोऽन्यथा ।
नियतं चाप्यन्यथा तद्वत्रोभेदसमाश्रयात् ॥ २२ ॥

इसके सिवा मुनि संवर्त्त ने जो कुछ मुझसे कहा था, उसका आशय भी श्रीमान् मुझे समझाने का कष्ट करें। अन्यथा उसे समझे बिना मैं सफलमनोरथ कैसे हो सकता हूँ ? ॥ १५ ॥

उनको बतलायी बातों को समझे बिना इस सन्दर्भ में मैं जो कुछ करता हूँ, वे सारे के सारे मुझे बच्चों का खेल जैसा ही तो लगता है ॥ १६ ॥

पहले मैंने अनेक यज्ञों से देवताओं की पूजा की थी। उन यज्ञों में बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ दी थीं। काफी अन्नदान भी किया था ॥ १७ ॥

मुनि संवर्त्त के मुख से ही मैंने सुना था कि ये सब तुच्छ फल देने वाले हैं और जो तुच्छ हैं उन्हें तो मैं दुःखद ही मानता हूँ ॥ १८ ॥

वस्तुतः सुख का अभाव ही दुःख नहीं होता, क्योंकि थोड़ा सुख भी तो दुःख ही होता है। सुख का अन्त होनेपर तो भारी दुःख का ही सामना करना पड़ता है ॥१९॥

इतना ही नहीं, इस कार्य में इससे भी बड़ा डर यह है कि इसमें मौत होती है और ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे मौत न हो ॥ २० ॥

देवी त्रिपुरा की उपासना में जो कुछ भी मैं करता हूँ; वे सभी मानसिक व्यापार होने के कारण वैसे ही तो हैं। अतः ये सभी मुझे बच्चों के खेल जैसा ही तो प्रतीत होता है ॥ २१ ॥

आपने कर्मानुष्ठान की तरह जिस विधि से त्रिपुरा की उपासना बतलायी थी उससे भिन्न विधि अर्थात् भाव की प्रधानता से भी और इन विधियों को छोड़कर भी की जा सकती है। क्योंकि इस सन्दर्भ में शास्त्र में मतैक्य नहीं है ॥ २२ ॥

आलम्बभेदतश्चापि त्रिविधं प्रतिपद्यते ।
कथमेतत्क्रतुसममसत्यफलसम्मितम् ॥ २३ ॥
अप्यसत्यात्मकं यस्मात् कथं सत्यसमं भवेत् ।
अथापि नित्यकर्त्तव्यमेतन्नास्यावधिः क्वचित् ॥ २४ ॥
लक्षितो मे स भगवन् संवर्त्तः सर्वशीतलः ।
कर्त्तव्यलेशविषमविषज्वालाविनिर्गतः ॥ २५ ॥
हसन्निव लोकतन्त्रमभयं मार्गमाश्रितः ।
वने दावाग्निसङ्कीर्णे हिमाम्बुस्थगजोपमः ॥ २६ ॥
सर्वकर्त्तव्यवैकल्यामृतसंस्वादनन्दितः ।
कथमेतां दशां प्राप्तो यच्च मामाह तत्पुरा ॥ २७ ॥
सर्वमेतत् सुकृपया गुरो मे वक्तुमर्हसि ।
कर्त्तव्यकालभुजगनिगीर्णं मां विमोचय ॥ २८ ॥

विशेष -- 'परा भगवती संवित् प्रसरन्ती स्वरूपतः ।
परेच्छाशक्तिरित्युक्ता भैरवस्याविभेदिनी ॥ (श्रीपराविद्या १०४)

अनुभवी सिद्धों की बहिर्मुखीन प्रसार की विभिन्न भूमिकाओं पर विभिन्न क्रियाशीलता को निभानेवाली शक्ति के इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति इत्यादि नामकरण किये गये हैं। वास्तव में ये समस्त नाम एवं उपासना-विधियाँ मात्र औपचारिक हैं, क्योंकि इससे शक्ति के भौतिक रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतः परशुराम ने गुरु से कहा है।

परशुरामजी की दृष्टि में गुरुओं के कथनानुसार योगक्रम में भी जब योगी प्रमेय जगत् के क्षोभ से रहित शून्य अवस्था में प्रवेश करता है और निश्चलता की स्थिति में प्रवेश करना चाहता है, तब उसे किस स्थिति में जाना होगा यज्ञ ज्ञेय है।

इसके सिवा इष्टजन्य आधारभेद के कारण आराधना की भिन्नता स्पष्ट है। इस प्रकार मिथ्याफलदायक यज्ञ की ही तरह यह भी तो है ॥ २३ ॥

अतः कर्मसाध्य होने के कारण मिथ्यात्मक होने पर भी उपासना सत्य की तरह कैसे हो सकती है। यदि वेद के इस वचन के अनुसार—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा' इसे नित्यकर्म की तरह करते रहना चाहिए तो फिर इसका अन्त नहीं है ॥ २४ ॥

किन्तु संवर्त्त मुनि तो मुझे हर दृष्टि से सन्तुष्ट प्रतीत होते थे। वे तो कर्त्तव्य की थोड़ी भी जटिल जहर की ज्वाला से निर्मुक्त प्रतीत होते थे ॥ २५ ॥

संसार के इस मिथ्या व्यवहार पर उन्हें हँसी आती थी और वे अभय मार्ग पर अवस्थित थे। ठीक उसी तरह जैसे दावानल से घिरे जलते जंगल के बीच शीतल जल से भरे सरोवर में कोई गजराज खड़ा हो ॥ २६ ॥

वे हर कर्त्तव्यविमुक्ति रूप अमृत पीकर आनन्दित जान पड़ते थे। यह अवस्था उन्हें कैसे प्राप्त हुई ? इसका वर्णन उस समय उन्होंने मेरे सामने किया था ॥ २७ ॥

हे गुरुदेव ! कृपापूर्वक आप मुझे इन रहस्यों के बारे में समझा दें । मुझे कर्त्तव्य-रूपी काले नाग ने डँस लिया है । इनसे मुझे बचा लीजिए ॥ २८ ॥

विशेष—यहाँ परशुराम ने कर्त्तव्यरूपी नाग से अपने को डँसा हुआ मानकर मुक्ति का उपाय खोजा है । कर्त्तव्य का यह चक्र जब तक चलता रहेगा, जन्ममरण की श्रृंखला भी तब तक चलती ही रहेगी । यहाँ परशुराम की आत्मा आनन्द चाहती है; पूर्ण आनन्द, क्योंकि सभी तरह के कर्त्तव्यों का विश्राम आ सकता है । जहाँ कर्त्तव्य है, वहीं दुःख है, क्योंकि वहाँ अभाव है । आत्मा आनन्द है, वह सभी कर्त्तव्यों का अभाव चाहती है । कर्त्तव्य का पूर्ण अभाव ही आनन्द है और वही आत्मा की स्वतन्त्रता भी है एवं मुक्ति भी । क्योंकि जहाँ कोई कर्त्तव्य है, वहीं बन्धन है, सीमा है, परतन्त्रता है । कर्त्तव्य जहाँ नहीं है, वहीं परममुक्ति में प्रवेश का द्वार है ।

आनन्द मोक्ष है और मुक्ति आनन्द है । निश्चय ही जो परम आकांक्षा है, वह बीज रूप में प्रत्येक व्यक्ति में प्रसुप्त है । क्योंकि जिस बीज में वृक्ष न छिपा हो, उसमें अंकुर भी नहीं आ सकता है । यहाँ पर परशुरामजी की जो चरम कामना है; वहीं उनका आत्यन्तिक स्वरूप भी छिपा है । इसीलिए कर्त्तव्यबन्धन से मुक्ति के लिए उनकी यह तड़प है ।

कर्त्तव्य स्वरूपत: आत्मा के निषेध के लिए आबद्ध है । क्योंकि उसका जन्म और ग्रहण इन्द्रियों से होता है और जो इन्द्रियों के अतीत हैं, वह उसकी सीमा नहीं । इसीलिए आत्मोपलब्धि के लिए कर्त्तव्यबन्धन असंगत एवं तर्कशून्य है । आत्मा अतर्क्य है । क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान से उसकी कोई संगति सम्भव नहीं है और वह इन्द्रियों से नहीं वरन् किसी बहुत ही अन्य और भिन्न मार्ग से उपलब्ध होता है । आत्मा किसी विचार की अनुभूति नहीं, निर्विचार चैतन्य में हुआ बोध है । विचार इन्द्रिय-जन्य हैं । निर्विचार चैतन्य अतीन्द्रिय है । विचार की चरम निष्पत्ति पदार्थ है । निर्विचार चैतन्य का चरम साक्षात् आत्मा है । वह साधना सार्थक है जो इस आत्मो-पलब्धि की ओर है । कर्त्तव्य में व्यस्त एवं ग्रस्त व्यक्ति उसे पा नहीं सकता । कर्त्तव्य धुएँ की भाँति उस अग्नि को ढँके रहता है । उनमें होकर सारा जीवन ही धुँआ बन जाता है । व्यक्ति उस ज्ञानाग्नि से अपरिचित ही रह जाता है, जो उसका वास्तविक होना है ।

उस असीम को, अनन्त को इस धुएँ से ऊपर उठकर जाना जाता है । इन्द्रियों के पीछे कर्त्तव्यशून्य चित्त की स्थिति में जिसका साक्षात् होता है, वही अनन्त, असीम, अनादि आत्मा है । इसे जानने की आँख शून्य है । उसे ही समाधि कहा जाता है । यही योग है । चित्त की वृत्तियों के विसर्जन से बन्द आँखें खुलती हैं और सारा जीवन उस अमृताग्नि के प्रकाश से आलोकित और रूपान्तरित हो जाता है । शून्य से पूर्ण के दर्शन होते हैं और शून्य आता है—विचार-प्रक्रिया के तटस्थ चुनाव रहित साक्षीभाव से । किसी को रोक रखना और किसी को परि-

इत्युक्त्वा चरणौ मूर्ध्ना गृहीत्वा दण्डवन्नतः ।
अथ दृष्ट्वा तथाभूतं भार्गवं मुक्तिभाजनम् ॥ २९ ॥
दयमानस्वभावोऽथ दत्तो वक्तुमुपाक्रमत् ।
वत्स भार्गव धन्योऽसि यस्य ते बुद्धिरीदृशी ॥ ३० ॥
अब्धौ निमज्जतो नौकासम्प्राप्तिरिव सङ्गता ।
एतावदेव सुकृतिः क्रियाभिरुपसङ्गतः ॥ ३१ ॥
स्वात्मानमारोहयति पदे परमपावने ।
सा देवी त्रिपुरा सर्वहृदयाकाशरूपिणी ॥ ३२ ॥
अनन्यशरणं भक्तं प्रत्येजं रूपिणी द्रुतम् ।
हृदयान्तःपरिणता मोचयेन्मृत्युजालतः ॥ ३३ ॥
यावत् कर्त्तव्यवेतालान्न बिभेति दृढं नरः ।
न तावत् सुखमाप्नोति वेतालाविष्टवत् सदा ॥ ३४ ॥

त्याग करने का भाव कर्त्तव्य-प्रक्रिया में ही पैदा होता है। यही भाव कर्त्तव्य-बन्धन है।

विचार के तटस्थ साक्षी का अर्थ है—निर्भाव। कर्त्तव्य या विचार को निर्भाव से देखना ही ध्यान है। बस देखना है और चुनाव नहीं करना है। यह देखना ही बहुत श्रमसाध्य है। यद्यपि यहाँ कर्त्तव्य शेष है; कुछ भी करना नहीं है, पर कुछ न कुछ करते रहने की हमारी इतनी आदत बनी है कि कुछ न करने जैसा सरल और सहज कार्य भी लोगों को कठिन जान पड़ता है। बस देखने मात्र से बिन्दु पर स्थिर होने से हमारे सारे कर्त्तव्यभाव या विचार विलीन होने लगते हैं। वैसे ही जैसे प्रभात में सूर्य के उत्ताप में दूब पर जमे ओसकण वाष्पीभूत हो जाते हैं। इसी उपाय के लिए परशुराम अपने गुरु के शरणागत हुए हैं।

ऐसा कहते हुए परशुराम ने अपने गुरु के दोनों चरणों को सिर पर लेकर धरती पर लेट कर प्रणाम किया। परशुराम की ऐसी स्थिति देखकर सहज दयालु भगवान् दत्तात्रेय ने उन्हें मुक्ति का सच्चा अधिकारी मानकर उन्हें कहना प्रारम्भ किया। पुत्र परशुराम ! तुम्हें ऐसी बुद्धि का बोध हुआ है, अतः तुम धन्य हो। यह विचार तो ऐसा है जैसे किसी समुद्र में डूबनेवाले को नौका मिल जाय ॥ २९–३०½ ॥

उपासना या देवी की आराधना तो पुण्य-पुरुष उस परम पवित्र पद पर आसीन होने का एक माध्यम मात्र है ॥ ३१½ ॥

भगवती त्रिपुरा का न कोई रूप है और न आकृति ही। वह तो सबके हृदय में शुद्ध चैतन्य ब्रह्म के रूप में विद्यमान है। फिर भी अपने एकनिष्ठ शरणागत भक्त के लिए तुरन्त मूर्त्त रूप में उसके अन्तःकरण में आविर्भूत होकर उसका मृत्यु-बन्धन काट देती है ॥ ३२–३३ ॥

जब तक कोई व्यक्ति इस कर्त्तव्य रूपी पिशाच के डर से पूरी तरह डर नहीं

नृणां कर्त्तव्यकालाहिसन्दष्टानां कथं शुभम् ।
करालगरलज्वालाक्रान्ताङ्गानामिव क्वचित् ॥ ३५ ॥
कर्त्तव्यविषसंसर्गमूर्च्छितं पश्य वै जगत् ।
अन्धीभूतं न जानाति क्रियां स्वस्य हितात्मिकाम् ॥ ३६ ॥
अन्यथा चेष्टते भूयो मोहमापद्यते पुनः ।
एवंविधो हि लोकोऽयं कर्त्तव्यविषमूर्च्छितः ॥ ३७ ॥
अनादिकालतो भीमे पच्यते विषसागरे ।
यथा हि केचित्पथिकाः प्राप्ता विन्ध्यं महानगम् ॥ ३८ ॥
क्षुधाभरसमाक्रान्ताः फलानि ददृशुर्वने ।
विषमुष्टिफलान्याशु तिन्दुकस्य फलेहया ॥ ३९ ॥
भक्षयामासुरत्यन्तक्षुधानष्टरसेन्द्रियाः ।
अथ ते तद्विषज्वालाज्वलिताङ्गाः सुपीडिताः ॥ ४० ॥
अन्धीभूता विचिन्वन्तस्तद्विषोष्णप्रशान्तये ।
अविदित्वा मुष्टिफलं तिन्दुफलनिषेवणात् ॥ ४१ ॥
मत्वा ज्वालां निजे देहे धत्तूरफलमासदुः ।
भ्रान्त्या जम्बीरबुद्ध्या तत् सर्वैरासीत् सुभक्षितम् ॥ ४२ ॥

जाता तब तक उसे सुख नसीब नहीं होता। वह सदैव प्रेताविष्ट व्यक्ति की तरह पागल बना रहता है ॥ ३४ ॥

जिसे कर्त्तव्यरूपी काले नाग ने डँसा हो, जिसकी सारी देह में उसका जानलेवा जहर छहर गया हो; उस जहर की ज्वाला में जिस व्यक्ति का अंग-प्रत्यंग जलता हो, भला उसका कल्याण कैसे हो सकता है ? ॥ ३५ ॥

देखो, यह सारी दुनिया कर्त्तव्य-जहर के प्रभाव में बेहोश होकर अन्धी हो गई है। उसे अपने हित की बात भी नहीं सूझती ॥ ३६ ॥

वह बार-बार उलटे काम करता है और मोहजनित भ्रमजाल में फँसता रहता है। कर्त्तव्य रूपी जहर पीकर बेहोश बना व्यक्ति अनादिकाल से इस विषसागर में गोता लगा रहा है ॥ ३७½ ॥

एक बार कुछ घुमक्कड़ों की एक टोली घूमते-फिरते विन्ध्याचल की घाटी में जा पहुँची। भूख के मारे उनके पेट में चूहे कूदने लगे। उनकी जीभ का स्वाद बिगड़ गया। पेट की आग बुझाने के लिए फल की खोज में वे आगे बढ़े। सामने कुचला का एक पेड़ फल से लदा था। उन्होंने उन्हें काजू का फल समझकर भरपेट खा लिया ॥ ३८–३९½ ॥

कुछ ही देर में कुचले के जहर का नशा उन पर छा गया। इससे उन्हें बड़ी बेचैनी महसूस होने लगी। उन्हें यह तो पता था ही नहीं कि उन पर कुचले का नशा

उन्मत्ताश्च ततोऽभूवन् मार्गाद् भ्रष्टाश्च ते तदा ।
अन्धीभूयातिगहने पतन्तो निम्नभूमिषु ॥ ४३ ॥
कण्टकैश्चितसर्वाङ्गा भग्नबाहूरुपादकाः ।
अधिक्षिपन्तश्चान्योऽन्यं कलहश्चक्रुरुच्चकैः ॥ ४४ ॥
मुष्टिभिश्च शिलाभिश्च काष्ठैर्जघ्नुः परस्परम् ।
अथ ते दीर्णसर्वाङ्गाः पुरं क्वचित् समासदुः ॥ ४५ ॥
निशीथे दैववशतः पुरद्वारमुपाययुः ।
पुरद्वाराधिपालैस्ते प्रतिरुद्धाः प्रवेशने ॥ ४६ ॥
देशकालानभिज्ञानात् कलहश्चक्रुरुच्चकैः ।
अथ ते प्रहता द्वारपालैरतितरां यदा ॥ ४७ ॥
तदा पलायनपरा बभूवुः परितस्तु ते ।
पतिताः परिखे केचिद् भक्षिता मकरादिभिः ॥ ४८ ॥
केचित् खातेषु कूपेषु पतिताः प्राणमुत्सृजुः ।
अपरे तैर्विनिहताः केचिज्जीवग्रहं गता ॥ ४९ ॥

सवार है। उन्होंने इसे काजू खाने का ही दुष्परिणाम समझा। नशा उतारने के लिए उपचार की खोज में अन्धे की तरह वे घाटी में भटकने लगे। सामने उन्हें धतूरे के फल दिखलाई पड़े। नशे की झोंक में उन सभी ने उन्हें नींबू समझ कर खा लिया ॥ ४०–४२ ॥

इससे वे और अधिक उन्मत्त हो गये। घाटी में राह भूलकर भटक गये। कहीं जंगली काँटों में उलझते तो कहीं गड्ढों में गिरते ॥ ४३ ॥

काँटों से उनकी देह छलनी हो गयी। हाथ, पैर और घुटने घायल हो गये। वे आपस में एक-दूसरे को बुरा-भला कहना शुरू किया। झगड़ा गहरा गया ॥ ४४ ॥

फिर मुक्के, घूँसे, पत्थर और लाठियाँ चलने लगी। सभी घायल और लहू-लुहान देह लिए किसी तरह एक नगर के पास जा निकले ॥ ४५ ॥

आधी रात में इस स्थिति में इन्हें नगरद्वार पर उपस्थित देखकर द्वारपाल ने इन्हें नगर में घुसने से रोक दिया ॥ ४६ ॥

फिर क्या था ? एक तो कड़वी दूजे चढ़ा नीम पर, नशे में धुत्त इन्हें न तो स्थान का बोध था और न समय का ज्ञान; उलझ गये द्वारपालों से। द्वारपालों ने इन्हें जब कसकर पीट दिया ॥ ४७ ॥

तब सिर पर पैर रखकर इधर-उधर भागने लगे। उनमें से कुछ तो नगर की खाई में जा गिरे, जिन्हें मगर आदि जल-जन्तुओं ने खा लिया ॥ ४८ ॥

और कुछ गड्ढों और कुँओं में गिरकर जान गँवा दिये। शेष मार खाकर किसी तरह वहाँ से भाग निकलने में सफल हो गये ॥ ४९ ॥

एवं जना हितेच्छाभिः कर्त्तव्यविषमूर्च्छिताः ।
अहो विनाशं यान्त्युच्चैर्मोहिनान्धीकृताः खलु ॥ ५० ॥
धन्योऽसि भार्गव त्वन्तु यस्मादभ्युदयं गतः ।
विचारः सर्वमूलं हि सोपानं प्रथमं भवेत् ॥ ५१ ॥
परश्रेयोमहासौधप्राप्तौ जानीहि सर्वथा ।
सुविचारमृते क्षेमप्राप्तिः कस्य कथम्भवेत् ॥ ५२ ॥
अविचारः परो मृत्युरविचारहता जनाः ।
विमृश्यकारी जयति सर्वत्राभीष्टसङ्गमात् ॥ ५३ ॥

इसी तरह संसारी जीव अपने कल्याण की कामना से कर्त्तव्य रूपी जहर पीकर नशे में मदहोश बने हैं। मोहान्ध होकर अपने विनाश की ओर ही भाग रहे हैं ॥ ५० ॥

विशेष—कर्त्तव्य क्या है ? जिसे परशुरामजी ने जहरीला काला नाग कहा है और उनके गुरु ने कुचला और धतुरे के नशा से तुलना की है। साधारणतः संसार में जो कर्त्तव्य के नाम से जाना जाता है; वह सांसारिक आसक्ति या राग है और अपने आपको भुलाने का उपाय है। मनुष्य दुःख में है और अपने आपको भूलना चाहता है। तथाकथित कर्त्तव्य के माध्यम से वह अपने आपसे बहुत दूर चला जाता है। कर्त्तव्य के बहाने वह अपने आप को किसी और में भुला देता है। तथाकथित सांसारिक कर्त्तव्य मादक द्रव्यों का काम कर देता है। वह दुःख से मुक्ति नहीं लाता, केवल दुःखों के प्रति मूर्च्छा ला देता है। यह केवल कर्त्तव्य का सम्बन्ध रूप ही कहा जा सकता है। यह वस्तुतः कर्त्तव्य नहीं कर्त्तव्य का आभास मात्र है, केवल भ्रम है। कर्त्तव्य का यह भ्रमरूप दुःख से उत्पन्न होता है। दुःख की अनुभूति व्यक्ति की चेतना को दो दिशाओं में विभक्त कर देती है। एक दिशा है उसे भूलने की और एक दिशा है उसे विसर्जित करने की। जो दुःख विस्मृति की दिशा पकड़ता है, वह जाने-अनजाने किसी-न-किसी प्रकार की कुचले या धतूरे के तरह की मूर्च्छा या मादकता की खोज करता है। दुःख-विस्मरण में आनन्द का आभास ही हो सकता है, क्योंकि जो है उसे बहुत देर तक भूलना असम्भव है। यह आभास ही सुख है। निश्चय ही यह सुख बहुत क्षणिक है। साधारणतः कर्त्तव्य नाम से जाने जाने वाले कर्त्तव्य ऐसे ही मूर्च्छा, विस्मरण या नशा में चित्त की स्थिति है। इसीलिए यह चेतावनी है।

हे भृगुनन्दन ! आज तुम्हारे मनोरथ की सिद्धि हुई, क्योंकि तुम्हारे मन में विचार का उदय हुआ है। तुम धन्य हो। विचार ही सब शुभकर्मों की जड़ है। परम कल्याणरूपी इस विशाल भवन में प्रवेश की पहली सीढ़ी इस विचार को ही जानो। सुन्दर विचार के बिना भला कोई प्राप्त वस्तु की रक्षा कैसे कर सकता है ? ॥ ५१–५२ ॥

अविवेक या विचारहीनता सबसे बड़ी मौत है; क्योंकि विचारहीनता के कारण

अविचारहता दैत्या यातुधानाश्च सर्वशः ।
विचारपरमा देवाः सर्वतः सुखभागिनः ॥ ५४ ॥
विचाराद्विष्णुमाश्रित्य जयन्ति प्रत्यरीन् सदा ।
विचारः सुखवृक्षस्य बीजमङ्कुरशक्तिकम् ॥ ५५ ॥
विराजते विचारेण पुरुषः सर्वतोऽधिकः ।
विचाराद्विधिरुत्कृष्टो विचारात्पूज्यते हरिः ॥ ५६ ॥
सर्वज्ञस्तु विचारेण शिव आसीन्महेश्वरः ।
अविचारान्मृगासक्तो रामो बुद्धिमतां वरः ॥ ५७ ॥
परमामापदं प्राप्तो विचारादथ वारिधिम् ।
बद्धा लङ्कापुरीं रक्षोगणाकीर्णां समाक्रमत् ॥ ५८ ॥
अविचाराद्विधिरपि मूढो भूत्वाभिमानतः ।
शिरश्छेदं समगमदिति संस्तुतमेव ते ॥ ५९ ॥

सब के सब विनष्ट होते हैं। विवेकी व्यक्ति ही हर जगह अभीप्सित वस्तु पाकर अन्तिम सफलता हासिल कर लेता है ॥ ५३ ॥

विचारहीनता के कारण ही शक्तिसम्पन्न दैत्यों और राक्षसों का विनाश संभव हुआ है तथा सुविचार के कारण ही देवगण हर सुख के अधिकारी बने हैं ॥ ५४ ॥

अपने सुविचार के कारण ही सुरगण भगवान् विष्णु का सहारा लेकर सदैव अपने शत्रुओं पर विजयी रहे हैं। सुविचार ही सुखरूपी वृक्ष का बीज है, सुख के अंकुर फटने की ताकत तो इसी में निहित है ॥ ५५ ॥

विचार के कारण ही मनुष्य प्राणियों में सबसे श्रेष्ठ है। इसी विचार के कारण विधि सर्वाधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं और भगवान् विष्णु की पूजा हर जगह इसी विचार के कारण होती है ॥ ५६ ॥

इसी विचार के कारण भगवान् शिव महान् देवता तथा सब कुछ जाननेवाले हैं। और अपने अविवेक के कारण ही बुद्धिमानों में सर्वाधिक श्रेष्ठ होने के बावजूद श्रीराम ने सोने के हिरण के पीछे दौड़कर बड़ी विपत्ति मोल ली। फिर विचार का सहारा लेकर ही उन्होंने सागर पर पुल बनवाया और शक्तिशाली राक्षसों से भरी लंका पर चढ़ाई कर विजय हासिल की ॥ ५७–५८ ॥

विचार का पल्ला छूट जाने के कारण ही अपने घमण्ड में चूर बेवकूफ ब्रह्मा ने अपना एक सिर कटवा लिया था—यह बात तो तुमसे पहले ही कही जा चुकी है ॥ ५९ ॥

विशेष—एक पौराणिक गाथा के अनुसार विधि के पहले पाँच मुख थे। एक बार महाश्वेता लावण्यमयी सरस्वती को सभाभवन में देखकर ब्रह्माजी कामातुर हो गये। विवेक का पल्ला छूट गया। बुद्धिहीनता शरीर पर सवार हुई। घमण्ड ने उन्हें

महादेवोऽविचारेण वरं दत्त्वा सुराय वै।
भस्मीभावात् स्वस्य भीतः पलायनपरोऽभवत् ॥ ६० ॥
अविचाराद्धरिः पूर्वं भृगुपत्नीं निहत्य तु।
शापेन परमं दुःखमाप्तमत्यन्तदुःसहम् ॥ ६१ ॥

अपने आगोश में समेट लिया। उन्होंने आगे देखा न पीछे, बढ़ गये सर्वशुक्ला सरस्वती की ओर। उन्हें इनकी मनःस्थिति समझते देर न लगी। वह सभाभवन छोड़कर भयातुर हो भाग चली। भगवान् शिव से यह स्थिति देखी न गई। मर्यादा-भङ्ग की स्थिति देखकर उनकी भृकुटी तन गयी। पहले शिव ने इनकी काफी भर्त्सना की। फिर त्रिशूल उठाकर विधि का एक सिर काट डाला। उसी दिन से ब्रह्मा चतुरानन हो गये।

एक बार भगवान् शिव ने बिना विचारे भस्मासुर को वर दे डाला और फिर उसी वर के प्रभाव से स्वयं के भस्म होने की सम्भावना से डरकर भागते फिरे ॥ ६० ॥

विशेष— पुराण में वर्णित एक कथा के अनुसार वृकासुर नाम का एक प्रसिद्ध दैत्य था। उसने घोर तप किया। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर औघड़दानी शिव ने परिणाम सोचे बिना ही वृकासुर को वरदान दे डाला। वह वरदान यह था कि वह जिसके सिर पर हाथ रखेगा वह जलकर भस्म हो जायेगा। वह अब वृकासुर से भस्मासुर बन गया। एक बार शिव की अर्द्धाङ्गिनी जगज्जननी, विश्वमोहिनी, त्रिलोक सुन्दरी भवानी पर उसकी आँखें टिक गयीं। वह उन पर मोहित होकर भगवान् शिव को ही जला डालने की ठान ली। भयातुर शिव भाग चले। स्थिति की गम्भीरता भाँप कर श्रीकृष्ण ने युक्ति से उसका हाथ उसी के सिर पर रखवाकर उसे भस्म कर डाला।

बहुत दिन पहले भृगु ऋषि की पत्नी को विचारहीनता के कारण ही भगवान् विष्णु ने मार डाला। फिर, उनके श्राप से अत्यन्त असहनीय आपत्ति में जा फँसे ॥ ६१ ॥

विशेष – भृगुवंश के पूर्व पुरुष एक महान् ऋषि के रूप में विख्यात भृगु हैं। इस वंश का परिचय मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के पैंतीसवें श्लोक में मिलता है। मनु से उत्पन्न दस मूल पुरुषों में से ये एक हैं। एक बार जब ऋषियों का इस बात पर मतैक्य न हो सका कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव में से कौन-सा देवता ब्राह्मणों की पूजा का श्रेष्ठ अधिकारी है। भृगु को इन तीनों देवों के चरित्र का परीक्षण करने के लिए भेजा गया। सर्वप्रथम वे ब्रह्मलोक पहुँचे। ब्रह्माजी को उन्होंने प्रणाम नहीं किया। उनकी इस अशिष्टता के कारण ब्रह्मा ने उन्हें काफी फटकारा। फिर क्षमा माँगने पर शान्त हो गये। इसके बाद उन्होंने कैलाश पर्वत पर पहुँचकर शिव-दर्शन किया। यहाँ भी ब्रह्मलोक की तरह उन्होंने शिष्टाचार का पालन नहीं किया। भगवान् शिव को प्रणाम किये बिना ही एक ओर बैठ गये। प्रतिहिंसा परायण क्रुद्ध

एवमन्ये सुरा देवा यातुधाना नरा मृगाः ।
अविचारवशादेव विपदं प्राप्नुवन्ति हि ॥ ६२ ॥
महाभागास्ते हि धीरा यान् कुत्रापि च भार्गव ।
विजहाति विचारो नो नमस्तेभ्यो निरन्तरम् ॥ ६३ ॥
कर्त्तव्यमविचारेण प्राप्यमुह्यन्ति सर्वतः ।
विचार्य कृत्वा सर्वेभ्यो मुच्यतेऽपारसङ्कटैः ॥ ६४ ॥

शिव उन्हें भस्म करना ही चाह रहे थे कि उन्होंने अपने मृदु शब्दों से उन्हें शान्त कर दिया।

एक अन्य वृत्तान्त के अनुसार ब्रह्मा ने भृगु का आदर-सत्कार नहीं किया। अतः क्रुद्ध भृगु ने उन्हें श्राप दिया कि संसार में उसकी आराधना या पूजा नहीं होगी। शिव को भी लिङ्ग बन जाने का श्राप दिया। क्योंकि भृगु जब उनसे मिलने गये तो वे इनसे मिल न सके, क्योंकि उस समय शिव भवानी के साथ विराजमान थे। अन्त में भृगु विष्णु के पास पहुँचे। उस समय भगवान् विष्णु सोये थे। भृगु ने विष्णु की छाती पर पैर से ठोकर मारी। उनकी आँखें खुल गईं। क्रुद्ध होने के बजाय विष्णु ने बड़ी विनम्रता से उन्हें पूछा कि कहीं उनके पैर में चोट तो नहीं लग गई। यह कहकर उन्होंने भृगु का पैर धीरे-धीरे सहलाना शुरू किया। तब भृगु ने घोषणा की कि यह विष्णु ही सर्वाधिक बलशाली देवता हैं। क्योंकि उन्होंने अपने सर्वशक्तिशाली शस्त्र कृपालुता और उदारता से अपना स्थान सर्वप्रमुख बना लिया। अतः भगवान् विष्णु ही सब की पूजा के सर्वोत्तम अधिकारी समझे गये।

जमदग्नि ऋषि का नाम भी भृगु है। परशुराम के रूप में विष्णु उनके पुत्र के रूप में अवतरित हो चुके थे। इसने अपनी बाल्यावस्था में ही अपने पिता की आज्ञा से जबकि उसके भाइयों में से कोई भी तय्यार न हुआ, अपनी माता रेणुका का सिर काट डाला था। विष्णु के ये छठे अवतार माने जाते हैं।

क्षत्रियरुधिरमये जगदपगतपापं स्नपयसि पयसि शमितभवतापम् ।
केशव धृतभृगुपतिरूप जय जगदीश हरे ॥ गी० गो० ॥

इसी कथा की ओर इस श्लोक का संकेत है।

इसी तरह देव, दानव, मानव एवं मृग आदि अपनी विचारहीनता के कारण ही विपत्ति के जाल में जा फँसते हैं ॥ ६२ ॥

हे भार्गव ! ऐसे पुरुष भाग्यवान् हैं जिन्हें किसी भी परिस्थिति में विवेक साथ नहीं छोड़ता। इन्हें बार-बार प्रणाम है ॥ ६३ ॥

अविवेक के कारण ही कोई अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य मानकर मोह जाल में फँस जाते हैं। जो कोई विवेक-सम्मत काम करता है, वह अपार संकट से भी छुटकारा पा लेता है ॥ ६४ ॥

एवं लोकांश्चिरादेषोऽविचारः सङ्गतोऽभवत् ।
यस्याविचारो यावत् स्यात् कुतस्तावद्विमर्शनम् ॥ ६५ ॥
ग्रीष्मभीष्मकरातप्ते मरौ क्व शिशिरं जलम् ।
एवं चिराविचाराग्निज्वालामालापरीवृते ॥ ६६ ॥
विचारशीतलस्पर्शः कथं स्यात् साधनं विना ।
साधनन्त्वेकमेवात्र परमं सर्वतोऽधिकम् ॥ ६७ ॥
सर्वहृत्पद्मनिलयदेवतायाः परा कृपा ।
तां विना स्यात् कथं कस्य महाश्रेयः सुसाधनः ॥ ६८ ॥
विचारार्कोऽविचारान्धमहाध्वान्तनिबर्हणः ।
तत्र मूलं भवेद्भक्त्या देवतापरिराधनम् ॥ ६९ ॥
राधिता परमा देवी सम्यक् तुष्टा सती तदा ।
विचाररूपतां याति चित्ताकाशे रविर्यथा ॥ ७० ॥
तस्मान्निजात्मरूपां तां त्रिपुरां परमेश्वरीम् ।
सर्वान्तरनिकेतां श्रीमहेशीं चिन्मयीं शिवाम् ॥ ७१ ॥
आराधयेदकापट्यात् सद्गुरुद्वारतः क्रमात् ।
आराधनेऽपि मूलं स्याद्भक्तिः श्रद्धा च निर्मला ॥ ७२ ॥

इस तरह बहुत दिनों से अविवेक ने ही लोगों को अपने प्रभाव में उलझा रखा है। और जब तक किसी पर अविवेक का अधिकार है तब तक वह सही विचार कर ही नहीं सकता है ॥ ६५ ॥

जेठ की तपती दुपहरिया में एक बूँद ठंडे पानी के लिए मरुभूमि में तड़पते प्राणी की तरह, जिनका दिल अविवेक की आग में झुलस गया हो, उन्हें साधना के बिना विवेक का शीतल स्पर्श कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसके लिए तो सर्वाधिक श्रेष्ठ साधन एक ही है ॥ ६६–६७ ॥

और वह है—सबके हृदय-कमल में निवास करनेवाली त्रिपुरसुन्दरी की परम कृपा। इसके बिना किसी को परम कल्याण की प्राप्ति कैसे हो सकती है ॥ ६८ ॥

अविवेक के कारण अन्धे बने लोगों के अज्ञान रूपी घोर अन्धकार को विवेक का सूर्य ही तो विनष्ट कर सकता है। और विवेक के सूर्योदय का मूल कारण तो भक्ति-भाव से त्रिपुरसुन्दरी की आराधना मात्र है ॥ ६९ ॥

साधक की आराधना से प्रसन्न होकर महादेवी त्रिपुरा उसके हृदयाकाश में विचाररूप में परिणत हो सूर्य की तरह चमक उठती है ॥ ७० ॥

अपनी ही आत्मा के रूप में सबके हृदय में निवास करनेवाली, परम ऐश्वर्य-शालिनी, परमात्मरूपा, मंगलमयी त्रिपुरसुन्दरी भवानी हैं। सद्गुरु से दीक्षा ग्रहण कर निश्छल भाव से उनकी आराधना करनी चाहिए। उनकी आराधना में भी निर्मलता, श्रद्धा और भक्ति ही प्रधान कारण है ॥ ७१–७२ ॥

तत्रापि मूलं माहात्म्यश्रवणं परिकीर्त्तितम् ।
अतस्ते प्रथमं राम माहात्म्यं सम्प्रवर्त्तितम् ॥ ७३ ॥
तेन श्रुतेनाधुना त्वं प्राप्तवानसि मङ्गलम् ।
विचारं श्रेयसो मूलं यस्मात्ते न हि भीरितः ॥ ७४ ॥
विचारोदयपर्यन्तं भयमस्ति महत्तरम् ।
अविचारात्मदोषेण ग्रस्तस्य प्रतिवासरम् ॥ ७५ ॥
यथा हि सन्निपातेन ग्रस्तस्यौषधसेवनात् ।
अपि तावद्भवेद् भीतिर्यावद्धातोरशुद्धता ॥ ७६ ॥
प्राप्ते विचारे परमे फलितं जीवितं नृणाम् ।
यावत् सुजन्म सुनृणां विचारो न भवेत् परः ॥ ७७ ॥
तावन्तो जन्मतरवो वन्ध्या विफलहेतुतः ।
स एव सफलो जन्मवृक्षो यत्र विमर्शनम् ॥ ७८ ॥
कूपमण्डूकसदृशा ये नरा निर्विमर्शनाः ।
यथा कूपे समुत्पन्नो भेको नो वेद किञ्चन ॥ ७९ ॥
शुभं वाप्यशुभं वापि कूपे एव विनश्यति ।
तथा जना अपि वृथोत्पन्ना ब्रह्माण्डकूपके ॥ ८० ॥

हे परशुराम ! पहले भी मैंने तुम्हारे सामने देवी त्रिपुरा की महिमा का बखान किया था । यह माहात्म्य श्रवण ही इनकी उपासना की जड़ है ॥ ७३ ॥

उनकी महिमा सुनने के कारण ही तुम में माङ्गलिक विचार का उदय हुआ है । अतः अब तुम्हें संसार में किसी तरह का भय नहीं है ॥ ७४ ॥

जब तक मन में सुविचार का उदय नहीं हो जाता तब तक अविवेकी पुरुष में हर पल, हर दिन यह भय तो बना ही रहता है ॥ ७५ ॥

सन्निपात रोग से पीड़ित व्यक्ति औषधि-सेवन के बावजूद तब तक डरता रहता है जब तक उसमें धातुओं की अशुद्धि शेष रहती है ॥ ७६ ॥

विशेष – सन्निपात—आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में जब किसी व्यक्ति के शरीर में कफ, पित्त और वात तीनों एक साथ कुपित होकर आक्रमण करते हैं तब इस अवस्था को सन्निपात कहते हैं ।

धातु—जो शरीर का धारण करता है, उसे धातु कहते हैं । आयुर्वेद के अनुसार शरीरस्थ सात धातुएँ मानी गयी हैं— रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ।

विचारवान् व्यक्ति का ही मानव-जीवन सफल माना जाता है । उत्तम मनुष्य-योनि मिलने पर भी जिस व्यक्ति में विचार का उदय नहीं हुआ हो, उसका जन्मवृक्ष ठूंठ या बाँझ है । जीवन-वृक्ष का फल तो विवेक ही होता है ॥ ७७–७८ ॥

विचारहीन व्यक्ति कुएँ में रहनेवाले मेंढक की तरह होते हैं । जैसे कुएँ में जन्म

शुभं वाप्यशुभं वापि न विदुः स्वात्मनः क्वचित् ।
उत्पद्योत्पद्य नश्यन्ति न जानन्ति स्वकं हितम् ॥ ८१ ॥
सुखबुद्धिश्च दुःखेषु सुखे दुःखविनिश्चयम् ।
प्राप्याविचारमाहात्म्यात् पच्यन्ते सृतिपावके ॥ ८२ ॥
दुःखेन क्लिश्यमानाश्च न कथञ्चित् त्यजन्ति तत् ।
यथा पादशताघातैस्ताडितोऽपि महाखरः ॥ ८३ ॥
रासभीमनुयात्येव तथा संसरणं जनः ।
त्वन्तु राम विचारात्मा पारं दुःखस्य सङ्गतः ॥ ८४ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे विचारमाहात्म्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥

लेनेवाला मेंढक कुएँ से बाहर की अच्छी या बुरी कोई बात नहीं जानता और कुएँ में ही समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार विचारहीन व्यक्ति का इस ब्रह्माण्डकूप में जन्म निरर्थक ही होता है ॥ ७९-८० ॥

ऐसे लोगों को अपने हित या अहित का कुछ भी ज्ञान नहीं होता है। ये बार-बार जन्म लेते और मरते हैं। अपना हित नहीं समझते ॥ ८१ ॥

अपने अविवेक के कारण ही पुत्र-कलत्र जो दुःख के साधन हैं उन्हें ये सुख समझते हैं और सुख के साधनभूत वैराग्य को दुःख मानकर संसार की भट्ठी में जलते रहते हैं ॥ ८२ ॥

दुःख के कारणभूत स्त्री-पुत्रादि से बार-बार कष्ट पाकर भी अविवेकी उन्हें नहीं छोड़ते, ठीक उसी प्रकार जैसे गदही की सैकड़ों लात खाने के बावजूद गदहा उसका पीछा नहीं छोड़ता। किन्तु हे परशुराम ! तुम अब इस सांसारिक दुःख को पार कर चुके हो ॥ ८३-८४ ॥

विशेष—द्वितीय अध्याय के अन्तिम सन्दर्भ में दत्तात्रेयजी ने मनुष्य की विचार शक्ति का विवेचन प्रस्तुत किया है। निश्चय ही मानव-जीवन में विचार से बड़ी कोई शक्ति नहीं है। विचार ही व्यक्तित्व का प्राण है। उसके केन्द्र पर ही जीवन का प्रवाह घूमता है। मनुष्य में वही सब प्रकट होता है, जिसके बीज वह विचार की भूमि में बोता है। विचार की सजगता ही मनुष्य को अविचार की पशुता से भिन्न करती है।

इसके पूर्व हम कुछ कर सकें, हमारी वैचारिक सत्ता का जागरण, हमारी आत्मा, हमारे व्यक्ति का होश में आना आवश्यक है। अविचार की अराजक भीड़ की जगह विचार हो, बहुचित्तता की जगह चैतन्य हो, तो हममें अवैचारिक प्रतिकर्म की जगह कर्म का जन्म हो सकता है। व्यक्ति केन्द्र उपलब्धि तो विचार से ही सम्भव है।

जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति का साधन एकमात्र सद्विचार ही है। मनुष्य जीवन और मृत्यु का मिलन है। मनुष्य चेतना और जड़ता का संगम है। जिस दिन जन्म होता है उसी दिन से मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है। मृत्यु आकस्मिक नहीं होती,

यह तो जन्म का ही विकास है। जो वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए विचार नहीं करते, वे केवल मृत्यु की ओर ही अग्रसर हैं। विचार का सहारा लेकर या तो हम और बृहत्तर तथा विराट् जीवन में पहुँच सकते हैं या संसार चक्र में ही भटकते रह सकते हैं। जिन्होंने विचारपूर्वक सत्य जीवन की ओर अपने को गतिमान् नहीं किया है, मृत्यु के अतिरिक्त उनका भविष्य क्या हो सकता है ?

मनुष्य में विचार करने की जो शक्ति है, वह उसकी सबसे बड़ी सम्भावना है। यह उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है। विचार से बहुमूल्य मानव-जीवन में और कुछ नहीं है। विचार के आधार पर चलकर वह स्वयं तक और सत्ता तक पहुँच सकता है। यह जीवन बृहत्तर जीवन और ब्रह्म की दिशा है।

विचारशक्ति अविचार से मुक्त होते ही जागने लगती है। जब तक अविचार के जाल में मनुष्य फँसा सांसारिक वस्तु में लिपटे रहने की वृत्ति रखेगा तब तक विचार की स्वशक्ति के जागरण का कोई हेतु नहीं हो सकता। अविचार की बैशाखियाँ छोड़ते ही स्वयं के पैरों से चलते रहने के अतिरिक्त और कोई विकल्प न होने से मृत पड़े पैरों में अनायास विचार का रक्त-संचार होने लगता है। फिर चलने से ही चलना आता है।

अविचार से मुक्त होते ही आप देखेंगे कि स्वयं की अन्तःसत्ता से कोई नई ही शक्ति जाग रही है। किसी अभिनव और अपरिचित ऊर्जा का आविर्भाव हो रहा है। जैसे अन्धे को अचानक आँखें मिल गयी हों या अँधेरे घर में अचानक दीया जल गया हो। विचार की शक्ति जब जागती है तो अन्तर्हृदय आलोक से भर जाता है। विचार-शक्ति का उद्भव होते ही जीवन को आँखें मिल जाती हैं। और जहाँ आलोक है वहाँ आनन्द है और जहाँ आँख हैं वहाँ मार्ग निष्कण्टक है। जो जीवन अविचार के कारण दुःखमय हो जाता है, वही जीवन विचार के आलोक में संगीतमय बन जाता है। गुरु दत्तात्रेय ने परशुराम को इसी वैचारिक शक्ति का परिचय कराया है।

दूसरा अध्याय समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

दत्तात्रेयप्रोक्तवचः श्रुत्वात्यन्तसुकौतुकी ।
जामदग्न्यः पुनरपि पप्रच्छ विनयान्वितः ॥ १ ॥
भगवन् गुरुणाऽथोक्तं भवता यत्तथैव तत् ।
अविचारात्परो नाशः सम्प्राप्तः सर्वथा जनैः ॥ २ ॥
विचारेण भवेच्छ्रेयस्तन्निदानमपि श्रुतम् ।
माहात्म्यश्रुतिरित्येव तत्र मे संशयो महान् ॥ ३ ॥
कथं वा तदपि प्राप्यं साधनं तत्र किं भवेत् ।
स्वाभाविकं तद्यदि स्यात्तत् सर्वैर्न कुतः श्रुतम् ॥ ४ ॥
अहं वाद्यावधि कुतः प्रवृत्तिं नाप्तवानिह ।
दुःखं मत्तोऽधिकं प्राप्ता विहताश्च पदे पदे ॥ ५ ॥
न कुतः साधनं प्राप्ता एतन्मे कृपया वद ।
इत्यापृष्टः प्राह भूयो हृष्टो दत्तो दयानिधिः ॥ ६ ॥
शृणु राम प्रवक्ष्यामि निदानं श्रेयसः परम् ।
सद्भिः सङ्गः परं मूलं सर्वदुःखनिबर्हणम् ॥ ७ ॥

गुरु दत्तात्रेय की बातें सुनकर परशुरामजी विस्मयविमूढ़ हो गये। उन्होंने बड़े ही विनत भाव से उनसे पुनः पूछा ॥ १ ॥

भगवन् ! आपने जो कुछ जैसे कहा, बातें ठीक वैसी ही हैं। अविचार के कारण ही लोगों को बड़ी-से-बड़ी हानि आज तक उठानी पड़ी है ॥ २ ॥

अतः विचार से ही कल्याण की सम्भावनाएँ हैं और उनका निदान भगवती की महिमा का श्रवण भी मैंने सुना है। किन्तु इस सन्दर्भ में मुझे एक बड़ी शङ्का है ॥३॥

महिमा सुनने का अवसर भी कैसे मिले ? इस पाने का उपाय क्या है ? यदि आप कहें कि यह तो सबके लिए सभी जगह सामान्य रूप से उपलब्ध है तो सवाल उठता है कि फिर सबों ने इसे सुना क्यों नहीं ? ॥ ४ ॥

अथवा आजतक मुझे ही यह सुनने की इच्छा क्यों न हुई ? संसार में ऐसे बहुत सारे लोग हैं, जिन्हें मुझसे भी ज्यादा कष्ट है और जो हर पग पर ठोकर खा रहे हैं; उन्हें भला इस साधन की उपलब्धि क्यों नहीं हुई ? कृपया इसका कारण बताने का कष्ट करें। विनत भाव से पूछने पर प्रसन्न दयालु दत्तात्रेयजी ने पुनः कहना प्रारम्भ किया ॥ ५-६ ॥

सुनो परशुराम ! इस परम कल्याण का मूल कारण मैं तुम्हें बतलाता हूँ। सभी

परमार्थफलप्राप्तौ बीजं सत्सङ्ग उच्यते ।
त्वं चापि तेन हि सता संवर्त्तेन महात्मना ॥ ८ ॥
सङ्गतः सन्निमां प्राप्तो दशां श्रेयःफलोदयाम् ।
सन्त एव हि संयाता दिशन्ति परमं सुखम् ॥ ९ ॥
विना सत्सङ्गतः केन प्राप्तं श्रेयः परं कदा ।
लोकेऽपि यादृशं सङ्गं यो यः प्राप्नोति मानवः ॥ १० ॥
तत्फलं स समाप्नोति सर्वथा न हि संशयः ।
अत्रेति कीर्त्तयिष्यामि शृणु राम कथामिमाम् ॥ ११ ॥
पुरा दशार्णाधिपतिर्मुक्ताचूड इतीरितः ।
तस्य पुत्रौ हेमचूडमणिचूडौ बभूवतुः ॥ १२ ॥
सुरूपौ सुगुणौ चोभौ सर्वविद्याविशारदौ ।
कदाचिन्मृगयोत्साहात् सेनाभिः परिवारितौ ॥ १३ ॥
सह्याचलवनं भीमं सिंहव्याघ्रादिसङ्कुलम् ।
महाबलौ विविशतुर्धनुर्बाणधरौ किल ॥ १४ ॥
अथ तत्र मृगान् सिंहान् वराहान् महिषान् वृकान् ।
जघ्नतुर्निशितैर्बाणैर्लाघवात् कार्मुकच्युतैः ॥ १५ ॥

प्रकार के दुःखों का निवारक, सर्वाधिक प्रधान कारण इसका साधु पुरुषों की सत्संगति ही है ॥ ७ ॥

सत्संग परमार्थ रूपी फल का बीज है। तुम्हें भी सन्तशिरोमणि महात्मा संवर्त्त की संगति से ही परमश्रेय रूपी फल पाने का अवसर मिला है। कोई सन्त ही मिलने पर ऐसा परमसुख प्रदान कर सकते हैं ॥ ८–९ ॥

परमकल्याण की प्राप्ति सत्संग के बिना भला किसे हुई है ? इसमें संदेह करने की गुंजाइश नहीं है। क्योंकि लोक में भी संगति का फल देखने को मिलता ही है। जैसी संगति वैसा फल। हे परशुराम ! इस प्रसंग में से तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ ॥ १०–११ ॥

बहुत पहले दशार्ण (विन्ध्याचल के पूर्व दक्षिण में स्थित प्रदेश का प्राचीन नाम जहाँ से धसान नदी बहती है) देश का एक प्रसिद्ध राजा था। उसका नाम मुक्तापीड था। उन्हें दो बेटे थे — देवचूड और मणिचूड ॥ १२ ॥

दोनों भाई बड़े खूबसूरत, गुणवन्त और सकल विद्याविशारद थे। एक बार शिकार खेलने की इच्छा से धनुष-बाण लिये वे दोनों महाबली राजकुमार सशक्त सेना के साथ आधुनिक बम्बई प्रान्त का एक प्रसिद्ध सह्य नामक पर्वत की घाटी में अवस्थित बाघ-सिंह से भरे भयंकर जंगल में घुस गये ॥ १३–१४ ॥

वहाँ उन्होंने बड़ी फुर्ती से अपने तीखे तीरों से अनेक हरिणों, सिंहों, सूअरों, भैंसों और भेड़ियों को मार गिराया ॥ १५ ॥

एवं विनिघ्नतोर्वन्यान् मृगान् राजकुमारयोः ।
चण्डवायुः प्रादुरासीच्छर्कराश्मप्रवर्षणः ॥ १६ ॥
पांशुभिर्नभ आक्रान्तमभूद्दर्शनिशोपमम् ।
न दृश्यते तत्र शिला वृक्षः पुरुष एव वा ॥ १७ ॥
कुतो नीचोच्चतां पश्येदेवं ध्वान्तावृतो गिरिः ।
निहता शर्करावर्षैः सेनात्यतं पलायिता ॥ १८ ॥
वृक्षान् केचिच्छिलाः केचिद् गुहाः केचिदुपासदुः ।
अश्वारूढौ राजपुत्रावपि दूरं पलायितौ ॥ १९ ॥
हेमचूडः क्वचित्तत्र प्रपेदे तापसाश्रमम् ।
कदलीखर्जूरवनैराक्रान्तमतिसुन्दरम् ॥ २० ॥
तत्रापश्यच्छुभां काञ्चित् कन्यामग्निशिखामिव ।
प्रद्योतमानां वपुषा तप्तहेमसुवर्चसाम् ॥ २१ ॥
तां दृष्ट्वा राजपुत्रोऽपि पद्मामिव सुरूपिणीम् ।
स्मयमान इवाऽपृच्छत् का त्वं पद्मानने वने ॥ २२ ॥
निर्जने भीतिजनने निर्भये वशमास्थिता ।
कस्य त्वमपि केनात्र निवसस्येकला कथम् ॥ २३ ॥

जिस समय वे दोनों राजकुमार जंगली जानवरों का शिकार कर रहे थे, अचानक प्रचण्ड वेगवाली आँधी आई। कंकर, पत्थर और रेतों की वर्षा होने लगी ॥ १६ ॥

धूलिकणों से आकाशमण्डल भर गया। अमावस की काली निशा की तरह घोर अन्धेरा छा गया। फिर वहाँ पत्थर, पेड़-पौधे या मनुष्य कुछ भी नहीं दीखने लगे ॥ १७ ॥

उस पहाड़ पर कुछ ऐसा अन्धेरा छा गया कि ऊँचा-नीचा भी कहीं नहीं दिखाई देता था। बालू की वर्षा से घबड़ाकर सेना भी तितर-बितर हो गई ॥ १८ ॥

भागते सैनिकों में से कुछ ने पेड़ का सहारा लिया तो कुछ शिलाखण्डों के नीचे जा दुबके और कुछ कन्दराओं में जा छुपे। घोड़ों पर सवार दोनों राजकुमार भी दूर निकल भागे ॥ १९ ॥

भागते हुए उनमें से हेमचूड एक ऋषि के आश्रम में जा घुसा। वह आश्रम बड़ा ही रमणीय था। उसके चारों ओर केले और खजूर के पेड़ लगे थे ॥ २० ॥

वहाँ उन्होंने आग की लपट की तरह अत्यन्त कान्तिमयी किसी कन्या को देखा। उसका शरीर तपाये गये सोने की तरह तेजोदीप्त था ॥ २१ ॥

साक्षात् लक्ष्मी की तरह अत्यन्त रूपवती उस कन्या को देखकर मुस्कराते हुए राजकुमार ने पूछा—अरी ओ कमलमुखी ! तुम कौन हो ? अरी ओ निडर ! इस डरावने जनशून्य जंगल में लाचार होकर क्यों रह रही हो ? तुम किसकी बेटी हो ? यहाँ किसके साथ रहती हो ? इस समय अकेली क्यों हो ? ॥ २२–२३ ॥

पृष्टैव प्राह सा कन्या राजपुत्रमनिन्दिता ।
स्वागतन्ते राजपुत्र विष्टरं प्रतिपद्यताम् ॥ २४ ॥
तपस्विनामयं धर्मः पूजनं ह्यतिथेस्तु यत् ।
श्रान्तं त्वामभिपश्यामि व्यथितं चण्डवायुना ॥ २५ ॥
बद्ध्वा खर्ज्जूरवृक्षेऽश्वमत्रासीनो गतश्रमः ।
मद्वृत्तमर्हसि श्रोतुमित्युक्तः स तथाकरोत् ॥ २६ ॥
फलानि भोजयामास पाययामास सद्रसम् ।
एवं तं विश्रमं प्राप्तं राजपुत्रमनिन्दिता ॥ २७ ॥
प्राह सा मधुसंस्रावपेशलाकारया गिरा ।
राजपुत्र व्याघ्रपादो मुनिः शिवपदाश्रयः ॥ २८ ॥
येन लोकाः पुण्यतमा जिताः स्वतपसो बलात् ।
परावरज्ञो ह्यनिशं पूजितो मुनिनायकैः ॥ २९ ॥
तस्याहं धर्मतः पुत्री हेमलेखेति विश्रुता ।
विद्युत्प्रभाख्या विद्याध्री सा सर्वाङ्गमनोहरा ॥ ३० ॥
इमां वेणामनुनदीं स्नातुमभ्याययौ क्वचित् ।
तदा तत्राजगामार्थात् सुषेणो वङ्गभूपतिः ॥ ३१ ॥

इस तरह पूछे जाने पर उस निष्कलंक कन्या ने राजकुमार से कहा — राजपुत्र ! आपका सादर अभिनन्दन करती हूँ । आइये, इस आसन पर विराजिये ॥ २४ ॥

अतिथि-सत्कार तो तपस्वियों का धर्म है । आप तो मुझे काफी थके-से लगते हैं । इस तूफान ने आपको काफी परेशान कर दिया है ॥ २५ ॥

पहले अपने घोड़े को इस खजूर के पेड़ में बाँध दीजिए । इस आसन पर बैठकर कुछ देर विश्राम कर लीजिए । इस बीच मैं आपको अपनी कहानी भी सुना दूँगी । हेमचूड ने उस बाला के कथनानुसार ही किया ॥ २६ ॥

ऐसा करने पर उस कन्या ने राजकुमार को कुछ मीठे फल खिलाये । सुस्वादु शीतल जल पीने के लिए दिया । थकान दूर करने के बाद जब कुमार कुछ सुस्थिर हुए तब मीठी आवाज में उस कलकंठी ने कहना शुरू किया— राजकुमार ! परम शिवभक्त व्याघ्रपाद नामक एक मुनि थे ॥ २७—२८ ॥

अपने तपोबल से उन्होंने बैकुण्ठ को भी वशवर्ती बना लिया था । वे बड़े ब्रह्मज्ञानी थे । बड़े-बड़े मुनिगण दिन-रात उनकी सेवा में लगे रहते थे ॥ २९ ॥

मैं उनकी पालिता पुत्री हूँ । लोग मुझे हेमलता के नाम से जानते हैं । विद्युत्प्रभा नाम की एक विद्याधरी थी । उसका अंग-प्रत्यङ्ग आकर्षक था । सारा वदन मन-मोहक था । यहाँ इस वेणा नामक नदी में नहाने आयी । उसी समय वहाँ कहीं से घूमते-फिरते बंगाल के राजा सुषेण भी पहुँच गये ॥ ३०—३१ ॥

स ददर्श विगाहन्तीं नदीं तां लोकसुन्दरीम् ।
क्लिन्नांशुकान्तरात्यन्तव्यक्तपीनकुचद्वयीम् ॥ ३२ ॥
कामबाणहतस्तत्र तां प्रार्थयदथापि सा ।
सौन्दर्यमोहिता तस्य तदुक्तिं सममंसत ॥ ३३ ॥
सङ्गम्याथ तया राजा ययौ स्वनगरं प्रति ।
दधार सापि विद्याध्री गर्भं राजर्षिवीर्यतः ॥ ३४ ॥
भीतापचारात् पत्युः सा गर्भं त्यक्त्वात्र संययौ ।
अमोघवीर्याद्राजर्षेर्जाताहं कन्यका ततः ॥ ३५ ॥
मां ददर्श व्याघ्रपादः सन्ध्योपास्त्यर्थमागतः ।
दयया मामुपादायापालयज्जननी यथा ॥ ३६ ॥
धर्मेण यः पालयिता प्रोच्यते हि पितैव सः ।
अहन्तस्य धर्मपुत्री पितृसेवापरायणा ॥ ३७ ॥
तस्य माहात्म्यतो मेऽत्र भयं नास्त्येव कुत्रचित् ।
नायं सुरासुरैर्वापि कदाचिद् दुष्टबुद्धिभिः ॥ ३८ ॥
प्रवेष्टुमाश्रमोऽर्हः स्यात् प्रविशन्नाशमाप्नुयात् ।
एतन्मेऽभिहितं वृत्तं तिष्ठ किञ्चिन्नृपात्मज ॥ ३९ ॥

उस अद्भुत सुन्दरी को उन्होंने नदी में नहाते देखा । पानी में भीगे झीने कपड़ों में लिपटे उसके दोनों पीनपयोधर कहर ढहा रहे थे ॥ ३२ ॥

इसे देखते ही राजा सुषेण कामासक्त हो गये । उन्होंने उस दिव्य सुन्दरी से समागम की प्रार्थना की । राजा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसने भी उनकी बात मान ली ॥ ३३ ॥

रतिक्रिया के बाद राजा अपनी राजधानी लौट गया । परन्तु वह विद्याधरी राजा का शुक्र पेट में धारण कर गर्भवती हो गई ॥ ३४ ॥

पति के भय से डरकर इस व्यभिचार के चिह्न को वहीं छोड़कर वह भी चलती बनी । किन्तु राजा का वीर्य तो अमोघ था । उससे मेरी उत्पत्ति हुई ॥ ३५ ॥

सन्ध्योपासना के लिए जब मुनि व्याघ्रपाद उस नदी के किनारे वहाँ पहुँचे, तो मुझे उस स्थिति में देखकर उनका दिल दया से भर आया । वहाँ से उठाकर मुझे उन्होंने आश्रम पहुँचाया । फिर एक दयालु माँ की तरह आज तक उन्होंने मेरा पालन-पोषण किया है ॥ ३६ ॥

ये मेरे धर्मपिता हैं और मैं उनकी धर्मपुत्री । अपने पिता की सेवा में मैं यहाँ दिन-रात तत्पर रहती हूँ ॥ ३७ ॥

उनकी महिमा के कारण यहाँ किसी से किसी प्रकार का मुझे डर नहीं । अपने कलुषित विचार के साथ इस आश्रम में न कोई देवता ही प्रवेश कर सकता है और न कोई दानव ही । यदि ऐसा-वैसा कुछ करने का दुःसाहस कोई करेगा तो उसका

आयास्यति स भगवान् पिता मे तं निशामय ।
प्रणम्य तं प्राप्य चेष्टं ततः कल्ये प्रयास्यसि ॥ ४० ॥
हेमलेखावचः श्रुत्वा तत्सौन्दर्येण मोहितः ।
भीतः किञ्चित् प्रवक्तुं तां विमना इव चाभवत् ॥ ४१ ॥
अथालक्ष्य राजपुत्रं कामस्य वशमागतम् ।
प्राह सा विदुषी भूयो राजपुत्र धृतिं भज ॥ ४२ ॥
आगच्छति पिता सद्यस्ततोऽभिलषितं भज ।
एवं वदन्त्यां तस्यां स व्याघ्रपादो महामुनिः ॥ ४३ ॥
आजगाम वनाद्यत्र पुष्पादेः कृतसञ्चयः ।
मुनिं समागतं दृष्ट्वा राजपुत्रः समुत्थितः ॥ ४४ ॥
प्रणम्य नाम संश्राव्योपविष्टस्तेन देशितः ।
अथ दृष्ट्वा राजपुत्रं कामेन विकृताकृतिम् ॥ ४५ ॥
ज्ञात्वा योगदृशा सर्वं मत्वा युक्तञ्च तत्तदा ।
दारक्रियार्थं तस्मै तां हेमलेखां ददौ मुनिः ॥ ४६ ॥
तुष्टो राजकुमारोऽपि तामादाय पुरं ययौ ।
मुक्ताचूडोऽतिसन्तुष्टो महोत्सवविधानतः ॥ ४७ ॥

विनाश निश्चित है। यह रही मेरी कहानी। राजकुमार अब आप यहाँ कुछ देर विश्राम करें ॥ ३८–३९ ॥

मेरे पूज्य पिता भगवान् व्याघ्रपाद अब आते ही होंगे। आप उनके दर्शन करें, उन्हें प्रणाम कर अपना अभीष्ट प्राप्त करें। फिर, कल सवेरे यथास्थान लौट जायें ॥ ४० ॥

हेमलता की सुन्दरता से राजकुमार मुग्ध था। उसकी बातें सुनकर उससे कुछ कहना चाहता था, पर कुछ कहने की हिम्मत न जुटा पाने के कारण उदास होकर चुप लगा गया ॥ ४१ ॥

काम के वशीभूत उसे जानकर बुद्धिमती हेमलता ने उससे फिर कहा—राजकुमार ! धीरज रखो ॥ ४२ ॥

'मेरे पिताश्री आते ही होंगे। तब आप अपने मन की मुराद पूरी कर लेंगे।' वह ऐसा कह ही रही थी कि मुनि व्याघ्रपाद फल-फूल लिये जंगल से लौट आये। उन्हें आते देख राजकुमार उठकर खड़ा हो गया ॥ ४३–४४ ॥

अपना नाम बतलाते हुए उसने महामुनि को प्रणाम किया। फिर उनका आदेश पाकर बैठ गया। मुनि ने देखा कि कामोन्माद से उसकी आकृति विकृत हो गई थी। योगबल से ध्यानस्थ होकर उन्होंने राजकुमार की सारी स्थिति जान ली तथा उसे उचित ही समझा। उन्होंने पत्नी के रूप में हेमलेखा को उसे समर्पित कर दिया ॥ ४५–४६ ॥

विवाहमकरोत्तस्य विधानेन क्षितीश्वरः ।
अथ राजकुमारोऽपि तया क्रीडापरः सदा ॥ ४८ ॥
सौधेषु वनराजिषु पुलिनादिषु सम्भ्रमौ ।
हेमलेखां राजपुत्रो भोगेष्वनतिकामिनीम् ॥ ४९ ॥
उदासीनां सदा दृष्ट्वा पप्रच्छ रहसि क्वचित् ।
किं प्रिये नानुरक्तासि प्रिये मय्यनुरागिणि ॥ ५० ॥
कुतो भोगेषु नात्यन्तमासक्तासि शुचिस्मिते ।
किं भोगास्ते मनोयोग्या न सन्त्यत्र कुतस्त्विदम् ॥ ५१ ॥
अत्युत्तमेषु भोगेषु नासक्तेव विभासि मे ।
त्वय्यासक्तिविहीनायां कथं मे सुखदा रतिः ॥ ५२ ॥
आसक्ते मयि चापि त्वं भास्यन्यगतमानसा ।
भाषितापि मया भूयो न शृणोष्येव किञ्चन ॥ ५३ ॥
आगतं कण्ठसंलग्नं चिरादपि विभाव्य च ।
कदा नाथागतं चेति पृच्छस्यविदिता यथा ॥ ५४ ॥

इससे राजकुमार को काफी प्रसन्नता हुई । हेमलेखा को साथ लेकर वह अपनी राजधानी लौट गया । इसे देख-सुनकर राजा मुक्ताचूड भी पूर्ण सन्तुष्ट हुआ तथा उन दोनों का विधिवत् विवाह करा दिया ॥ ४७½ ॥

इसके बाद राजकुमार अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ महलों में, उद्यानों और नदी-पुलिनों पर लगातार विहार करने लगा ॥ ४८½ ॥

परन्तु राजकुमार ने देखा कि हेमलेखा को विषयोपभोग की थोड़ी भी इच्छा नहीं है । बल्कि, वह हमेशा उदास रहती है । एक दिन उसने एकान्त में उससे पूछा—प्रिये ! मैं तुम्हें प्यार करता हूँ । तुम पर फिदा हूँ । पर, तुम मुझसे प्यार क्यों नहीं करतीं ॥ ४९–५० ॥

प्रिये ! तुम्हारी मुसकान तो बड़ी मनमोहक है । फिर इस भोग से तुम्हें अरुचि क्यों है ? क्या तुम्हारे मन के लायक यहाँ के भोग नहीं है ? अगर हाँ, तो फिर ऐसी विरक्ति क्यों ? ॥ ५१ ॥

अत्यन्त उत्कृष्ट उपभोग में भी तुम अनासक्त की तरह मुझे लगती हो । यदि इस तरह तुम्हारा झुकाव इस ओर नहीं हुआ तो फिर तुम्हारे साथ विहार करने में मुझे ही भला क्या सुख मिलेगा ? ॥ ५२ ॥

मैं तुम पर फिदा हूँ और तुम्हारा मन कहीं और लगा है । मैं बार-बार बोलता हूँ पर लगता है जैसे तुम कुछ सुनती ही नहीं हो ॥ ५३ ॥

पता नहीं कब से मैं तुम्हें गले लगाकर बैठा हूँ और तुम अब पूछ रही हो कि आप कब आये ? लगता है मेरे आने-जाने का तुम्हें कुछ पता ही नहीं चलता ॥ ५४ ॥

पेशलेषूपभोगेषु दुर्लभेषु क्वचिन्न ते ।
मन आसज्जते कस्मान्न किञ्चिदनुमोदसि ॥ ५५ ॥
मया विरहितां त्वां वै निमील्य नयने स्थिताम् ।
यदा यदोपगच्छामि पश्यामि च तदा तदा ॥ ५६ ॥
विमुख्यां त्वयि भोगेषु विषयेषु सुखं मम ।
कथं भवेद् दारुयोषासङ्गतस्येव तद्वद ॥ ५७ ॥
न तवाभिमतं त्यक्त्वा किञ्चिन्मम समीहितम् ।
सर्वथा त्वामनुगतो ज्योत्स्नां कुमुदवत् किल ॥ ५८ ॥
तदेवं ते कुतश्चित्तं ब्रूहि प्राणाधिकप्रिये ।
येन शुद्धयेत् तु मच्चित्तं शापितासि मया प्रिये ॥ ५९ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे विचारमाहात्म्ये तृतीयोऽध्यायः ॥

तुम्हारे सामने एक से एक बढ़कर उपभोग की वस्तुएँ रखी जाती हैं। पर इनमें तुम्हारा मन तो रमता ही नहीं है। पता नहीं तुम्हारा मन इनमें क्यों नहीं लगता ॥ ५५ ॥

जब-जब मैं तुम्हारे पास आता हूँ आँखें बन्द किये तुम्हें किसी के ध्यान में लीन पाता हूँ। मेरी अनुपस्थिति में तुम ध्यानस्थ ही रहती हो ॥ ५६ ॥

इस तरह यदि तुम भोगों से विमुख रही तो फिर कठपुतली के साथ रहनेवाले पुरुष की तरह मुझे भी विषयोपभोग में क्या आनन्द आयेगा ? ॥ ५७ ॥

जो तुम्हें रुचती है उसके सिवा मेरी और रुची ही भला क्या होगी ? कुमुद जैसे चाँदनी का अनुसरण करता है, उसी तरह मैं तुम्हारा पूर्ण अनुगत हूँ ॥ ५८ ॥

तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हो। बताओ तुम्हारा मन ऐसा विषय-विमुख क्यों हो गया है ? हे प्रिये तुम्हें मेरी कसम है। कुछ बोलो ताकि मेरा मन हलका हो सके ॥ ५९ ॥

विशेष — प्रस्तुत गाथा के माध्यम से जीवन-दर्शन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। हेमलेखा के अनुसार यथार्थ चिन्तन ही जीवन है, भोगवृत्ति नहीं। भोग और योग ये दो जीवन की दिशाएँ हैं। यही भोग और योग विभिन्न दिशाओं के गामी हैं। भोग अन्धों द्वारा प्रकाश का विचार और विवेचना है; जबकि योग जीवन को सही ढंग से पहचानने की आँखें देता है। जीवन को पहचानने की सामर्थ्य और पात्रता उत्पन्न करता है।

योग जीवन का विज्ञान है। चित्त की शून्य और पूर्ण जाग्रत् अवस्था ही जीवन का यथार्थ है। विषयवासनाओं की दृष्टि से जब चित्त शून्य हो जाता है और विषयी

की दृष्टि से पूर्ण जाग्रत्, तब जीवन का यथार्थ पथ स्वतः उपलब्ध हो जाता है। भोग से विरक्ति ही सत्य और यथार्थ जीवन की सही आँखें हैं।

मनुष्य का चित्त सामान्यतः भोगों, सांसारिक विचारों और उनके प्रति सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं से आच्छन्न रहता है। इन अशान्त लहरों की एक मोटी दीवार बन जाती है। यही दीवार व्यक्ति को भीतर से बाहर रखती है। मानव-चेतना क्षणिक भोग के संसर्ग में विचार प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न कर लेती है और फिर उन्हीं में भटक जाती है। अपने ही हाथों से अपनी सत्ता तक पहुँचने के द्वार बन्द करने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र है। इस कथा का मूल इसी दिशा की ओर एक सबल संकेत है।

तीसरा अध्याय समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

प्रियस्य कण्ठासक्तस्य निशम्यैवं वचो हि सा।
ईषत्स्मिताननाा प्राह राजपुत्रमनिन्दिता ॥ १ ॥
बुबोधयिषती राजपुत्रं युक्त्याऽब्रवीदिदम्।
राजपुत्र शृणु वचो नाहं त्वयि विरागिणी ॥ २ ॥
किं स्यात् प्रियतमं लोके किंनु स्यादप्रियन्त्विति।
विचारपरमा नित्यं नान्तमेत्यत्र मे मतिः ॥ ३ ॥
ध्यायाम्येतच्चिरान्नित्यं स्त्रीस्वभाववशादहम्।
नैतज्जानामि तत्त्वं मे वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ ३ ॥
एवं प्रोक्तो हेमचूडः प्रहस्य प्राह तां प्रियाम्।
नूनं स्त्रियो मूढधिय इति सत्यं न संशयः ॥ ५ ॥
प्रियाप्रिये हि जानन्ति पशुपक्षिसरीसृपाः।
यतस्तेषां दृश्यते हि प्रियेष्वप्रियकेषु च ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च किमत्र बहु चिन्तनम्।
सुखं यस्मात् तत्प्रियं स्याद् दुःखं यस्मात्तदप्रियम् ॥ ७ ॥

अपने प्रिय की बाँहों में सिमटी-सिकुड़ी उस सुन्दर बाला ने उनकी बातें सुनने के बाद मुस्कराती हुई उनसे कुछ कहना शुरू किया ॥ १ ॥

दरअसल वह अपने पति को जीवन का यथार्थ रहस्य समझाना चाह रही थी। इसीलिए उसने बड़े तर्कसंगत ढंग से बात करते हुए कहना शुरू किया — नहीं, ऐसी बात नहीं है। राजकुमार न तो मुझे आपसे प्रेम कम है और न आपसे विरक्ति ही है ॥ २ ॥

पर मैं हर समय इस उधेड़बुन में रहती हूँ कि संसार में सर्वाधिक प्रिय वस्तु क्या है? और अप्रिय वस्तु क्या है? मेरी बुद्धि इसका कुछ जवाब नहीं दे पाती है ॥ ३ ॥

बहुत दिनों से लगातार मैं यही सोच रही हूँ। परन्तु नारीबुद्धि के कारण किसी निर्णय तक पहुँच नहीं पाती हूँ। कृपया आप इसका ठीक-ठीक विवेचन कीजिये ॥ ४ ॥

अपनी प्रियतमा की बात सुनकर हेमचूड ने हँसते हुए कहा — इसमें कोई सन्देह नहीं, औरतों की बुद्धि सचमुच मोटी होती है ॥ ५ ॥

भला इसमें अधिक सोचने-विचारने की बात ही क्या है? प्रिय और अप्रिय की पहचान तो पशु-पक्षी और रेंगनेवाले कीड़े-मकोड़ों को भी होती है। क्योंकि इनमें भी मनचाही वस्तु के प्रति झुकाव और अनचाही वस्तु के प्रति अलगाव देखे जाते हैं। जिससे सुख मिले, वह प्रिय है और जिससे दुःख हो वह अप्रिय है ॥ ६–७ ॥

किमत्र मुग्धभावेन नित्यं चिन्तयसि प्रिये।
श्रुत्वा प्रियवचः प्राह हेमलेखा पुनः प्रियम् ॥ ८ ॥
सत्यं स्त्रियो मुग्धभावा नास्त्यासां सद्विमर्शनम्।
तथाप्यहं बोधनीया त्वया सम्यग्विमर्शिना ॥ ९ ॥
सुबोधिता त्वया चाहं चिन्तामेतां विसृज्य तु।
त्वया भोगेषु सततं भवाम्यनुदिनं ततः ॥ १० ॥
राजन् सुखञ्च दुःखञ्च याभ्यां भवति ते ननु।
प्रियाप्रिये विनिर्दिष्टे त्वया सूक्ष्मविमर्शिना ॥ ११ ॥
एकमेव सुखं दुःखं कालदेशाकृतेर्भिदा।
जनयेदत्र तत् कस्मात् प्रतिष्ठाध्यवसायिनी ॥ १२ ॥
यतो वह्निः कालभेदात् पृथगेव फलप्रदः।
तथा देशविभेदेनाप्याकारस्य विभेदतः ॥ १३ ॥
शीतकाले प्रियो वह्निरुष्णे त्वप्रिय एव हि।
हिमोष्णदेशभेदेन प्रियश्चाप्रिय एव च ॥ १४ ॥
शीतप्रकृतिजीवानां प्रियोऽन्येषां तथेतरः।
अथाप्यधिकभावेनाल्पभावेनैवमीरितः ॥ १५ ॥

तुम बड़ी भोली हो। इस छोटी-सी बात पर दिन-रात सोचते रहने की क्या जरूरत है ? पति की बात सुनने के बाद हेमलेखा ने फिर कहना शुरू किया ॥ ८ ॥

औरतों की अक्ल तो मोटी होती ही है—यह तो आपने ठीक ही कहा; इनमें वस्तु-विवेचन की क्षमता ही कहाँ होती है ? परन्तु आप तो सुयोग्य समीक्षक हैं; मुझे समझा दीजिए ? ॥ ९ ॥

आपके समझा देने पर मुझे इस चिन्ता से छुटकारा मिल जायेगा। फिर दिन-रात मैं आपके साथ भोग में लीन हो जाऊँगी ॥ १० ॥

राजन् ! आपमें तो बड़ी-से-बड़ी बारीक बातों को भी समझने और समझाने की क्षमता है। आपने ही तो कहा था कि जिससे सुख हो वह प्रिय और जिससे दुःख हो वह अप्रिय है ॥ ११ ॥

किन्तु जब एक ही वस्तु समय, स्थान और स्वरूप के भेद होने पर सुख और दुःख दोनों ही देती हो तो उनकी एकरूपता का निश्चय कैसे हो ? ॥ १२ ॥

जैसे आग अलग-अलग समय पर अलग-अलग फल देने वाली है, उसी तरह स्थान और रूप भेद से भी उसके अलग-अलग परिणाम देख जाते हैं ॥ १३ ॥

जाड़े में आग प्रिय होती है और गर्मी में अप्रिय। इसी तरह ठंडे मुल्क में वह प्रिय होती है और गर्म देश में अप्रिय होती है ॥ १४ ॥

इसी तरह ठंडे प्रकृति के जीवों के लिए आग प्रिय होती है तथा गर्म मिजाज

एवं शीतं धनं दाराः पुत्रा राज्यं तथेतरत् ।
अथाप्येवं महाराजो दारपुत्रधनैर्वृतः ॥ १६ ॥
शोचत्यनुदिनं कस्मान्न शोचन्तीतरे कुतः ।
योऽयं भोगः सुखार्थोऽस्ति सोऽप्यनन्तो भवेन्न तु ॥ १७ ॥
न केनचित्तदखिलं प्राप्तं यस्मात् सुखं भवेत् ।
यत्किञ्चिल्लाभतो यस्मात् सुखं तत्रापि संशृणु ॥ १८ ॥
न तत् सुखं भवेन्नाथ यतो दुःखविमिश्रितम् ।
दुःखन्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमान्तरमित्यपि ॥ १९ ॥
बाह्यं शरीरसम्भूतं धातुदोषादिसम्भवम् ।
आन्तरं मानसं प्रोक्तं तच्च वाञ्छासमुद्भवम् ॥ २० ॥
महत्तरं मानसं स्याद् येन ग्रस्तमिदं जगत् ।
वाञ्छैव दुःखविटपिबीजं सुदृढशक्तिकम् ॥ २१ ॥
यया किङ्करतां प्राप्ताः कुर्वन्त्येव दिवानिशम् ।
इन्द्रादयोऽपि विबुधाः स्वर्निवासाः सदोदिताः ॥ २२ ॥

वाले जीवों को यह बिलकुल अच्छी नहीं लगती है । इसी तरह ज्यादा या कम मात्रा में होने पर भी ऐसा ही कहा जाता है ॥ १५ ॥

यही बात जाड़ा, वित्त, पत्नी, पुत्र, राज्य तथा अन्य विषयों के बारे में भी है । आप महाराज मुक्ताचूड को ही लीजिए । उन्हें किस बात की कमी है । पत्नी, पुत्र, धन सबसे सम्पन्न हैं ॥ १६ ॥

फिर वे भला दिन-रात सोच में क्यों डूबे रहते हैं । दूसरे लोग जिनके पास इतनी भोग-सामग्री का अभाव है, वे भी चिन्तामुक्त क्यों हैं ? और, फिर ये जो तथा-कथित सुखदायक भोग हैं वे भी तो किसी के पास अन्तहीन नहीं हो सकते ॥ १७ ॥

पूरे-के-पूरे सुख तो किसी को नसीब नहीं होते, थोड़े से सुख को भी यदि आप सुख ही कहें तो सुनिए ॥ १८ ॥

हे स्वामी ! दुःख मिला सुख तो सुख है ही नहीं । दुःख भी तो दो तरह के भीतरी और बाहरी नाम से कहे गये हैं ॥ १९ ॥

वात, कफ, पित्त तथा रस, रक्त प्रभृति दोष से जो दुःख शरीर में होता है वह बाहरी दुःख है । चाह पूरी नहीं होने पर जो मानसिक पीड़ा होती है, वह आन्तरिक दुःख है ॥ २० ॥

इनमें मानसिक पीड़ा तो सबसे बड़ी है । इस दुःख ने सारी दुनिया को जकड़ लिया है । इस दुःख रूपी पेड़ का शक्तिशाली बीज चाह ही तो है ॥ २१ ॥

इसी चाह की गुलामी कबूल करने के कारण अमरावती के निवासी इन्द्रादि देवगण भी दिन-रात किसी-न-किसी कर्म के अनुष्ठान में संलग्न रहते हैं ॥ २२ ॥

सुखं वाञ्छावशेषेऽपि यदस्ति नृपसम्भव।
तद्दुःखमेव जानीहि यत् क्रमिष्वपि सम्भवेत् ॥ २३ ॥
वरं तिर्यक्कीटक्रमिप्रभृतीनां सुखन्तु यत्।
स्वल्पवाञ्छासम्मिलितं नृणां किं स्यात् सुखं वद ॥ २४ ॥
वाञ्छाशतसमाविष्टो यदि किञ्चिदुपेत्य तु।
सुखी भवेदिह तदा को हि न स्यात् सुखी वद ॥ २५ ॥
अखिलाङ्गे वह्निदग्धे सूक्ष्मपाटीरबिन्दुना।
यदि शीतलदेहः स्यात् तदा सोऽपि सुखी भवेत् ॥ २६ ॥

राजकुमार, मन में किसी-न-किसी वस्तु की चाह रहते हुए जो सुख मिलता है, उसे आप सुख न मानें। ऐसा सुख तो कीड़े-मकोड़ों में भी संभव है ॥ २३ ॥

कीड़े-मकोड़े और पशु-पक्षियों का सुख तो थोड़ी चाह वाला होता है, इसलिए तो वह अच्छा है। परन्तु आप ही बतलायें कि मनुष्य को भला क्या सुख हो सकता है? क्योंकि उसके सुख के साथ तो सैंकड़ों चाहें जुड़ी हैं। यदि उनमें मात्र कुछ इच्छाओं की सम्पूर्त्ति से ही वह सुखी है, तो फिर ऐसा कौन है, जिसे सुखी न कहा जाय ॥ २४–२५ ॥

विशेष—विरक्ति की प्रतिमूर्त्ति हेमलेखा भोग में आकण्ठ लिप्त सांसारिक पति को जीवन-दर्शन का बोध कराना चाहती है। जीवन के यथार्थ सुख एवं दुःख का बड़े ही कलात्मक ढंग से विवेचन करती हुई कहती है—मैं दुःख में हूँ या सुख में; इसका विवेचन तो मनुष्य को स्वयं करना है। इसी उत्तर पर व्यक्ति का यथार्थ जीवन निर्भर करता है। तथाकथित सांसारिक भोगजन्य सुख के पीछे झांकना है; भुलावों और आत्मवंचनाओं के आवरण को उघार कर देखना है। उसे जो वस्तुतः यथार्थ है, जानने को स्वयं के समक्ष नग्न होना जरूरी है। सुख के झूठे आवरणों के हटते ही दुःख की अतल गहराइयाँ अनुभव में आने लगती हैं। घने अंधेरे और संताप का दुःख अनुभूत होता है। भय होता है। पुनः अपने उन्हीं आवरणों को ओढ़ लेने का जी करता है। इस तरह डर कर संसार में सुख बुद्धि से दुःख को ढाँक लेते हैं, उन्हें कभी सही सुख उपलब्ध नहीं होता। दुःख को ढांकना नहीं मिटाना है और उसे मिटाने के लिए उसे सही रूप में जानना आवश्यक है।

साधारणतः जिसे हम सुखी जीवन कहते हैं, वह भ्रम के अतिरिक्त और है ही क्या? और जिसे हम संसार में सफल जीवन कहते है; वह सांसारिक सफलता प्राप्त करने के सिवाय और है ही क्या? जीवन में सन्निहित दुःख को जो धन की या यश की या काम की मादकता में भूलने में सफल मालूम होते हैं, उन्हें संसार के लोग सफल मानते हैं। परन्तु सत्य तो इससे कुछ भिन्न है। ऐसे लोग जीवन पाने में नहीं, गँवाने में सफल हो गये हैं। इसके पीछे छिपे दुःख को भूल कर सुख के भ्रम में यह आत्मघात के सिवाय और है ही क्या? सांसारिक दुःख के प्रति जागरण सुख की सही दिशा निर्दिष्ट कर देता है।

प्रियायाः सम्परिष्वङ्गात् सुखं प्राप्नोति वै नरः।
तत्रैवाङ्गस्य विषमबन्धाद् दुःखं भवेन्ननु ॥ २७ ॥
रत्यावेशात् परिश्रान्तिः सर्वेषां जायते किल।
अनन्तरं भारवाहपशोरिव परिश्रमः ॥ २८ ॥
कथं पश्यसि तत् सौख्यं नाथैतन्मे समुच्यताम्।
यावत् सुखं प्रियासङ्गे नाडीसङ्घट्टसम्भवम् ॥ २९ ॥
तदास्ति तावन्न किमु शुनामस्तीह तद्वद।
यत् ततो ह्यतिरिक्तं ते दृष्टसौन्दर्यसम्भवम् ॥ ३० ॥

ऐसे ही चिन्तन से व्यक्ति की निद्रा टूटती है। सही सुख का बोध होता है। जो व्यक्ति दुःख या संताप से घबड़ाकर पलायन नहीं करता है; वही रुककर उन्हें सही रूप में पहचानने की चेष्टा करता है; वह अपने भीतर एक अभूतपूर्व चैतन्यजन्य सुख को प्राप्त कर लेता है। यह अनुभूति उसमें अभिनव क्रान्ति का साक्षी बन जाती है। सुख की सही पहचान उसे आमूल परिवर्तित कर देती है। वह अँधेरे को टूटते देखता है। दुःख को भागते परखता है। वह देखता है कि उसकी चेतना के रन्ध्र-रन्ध्र में सुख का सही प्रकाश परिव्याप्त हो रहा है। इस प्रकाश में पहली बार वह जानता है कि संसार क्या है? सुख क्या है? दुःख किसे कहना चाहिए?

दुःख के सच्चे स्वरूप को जान लेना ही सुख को जान लेना है। इस बोध के साथ ही उसका दुःख विसर्जित हो जाता है। दुःख अपने अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संसार को पहचानते ही व्यक्ति चिरन्तन सुख का अधिकारी हो जाता है। वह जो प्रत्येक व्यक्ति के भीतर है; सच्चिदानन्द है। उसकी अनुभूति ही असली सुख है। इस सच्चाई को जानना सुख को पा लेना है।

जिसकी सारी देह आग की ज्वाला में झुलस रही हो, उसे बादल या चन्दन का एक छोटा-सा कतरा कैसे ठंडक पहुँचा सकता है? अगर यह संभव है तो सांसारिक चाहवाला पुरुष भी सुखी हो सकता है ॥ २६ ॥

कहते हैं कि प्रियतमा के आलिङ्गन में सुख मिलता है। पर देखिए, पुरुष के द्वारा देह जकड़ लिए जाने पर दुःख तो वहाँ भी होता है ॥ २७ ॥

रतिक्रिया में भी जोश ठंडा होने पर तो सबको थकान महसूस होती ही है। रतिक्रिया के अन्त में तो बोझा ढोनेवाले जानवरों की तरह व्यक्ति हाँफता तो है ही ॥ २८ ॥

प्रियतम, आप मुझे इतना भर बतला दीजिए कि इसमें आपको सुख कैसे मिलता है? नाड़ियों की रगड़ से जितना सुख किसी को अपनी प्रियतमा के सम्भोग से मिलता है, सोचिये, क्या उतना ही सुख एक कुत्ते को कुतिया के सहवास में नहीं मिलता ॥ २९½ ॥

यदि आप यह कहें कि प्रियतमा का सौन्दर्य देखने से कुतिया के संभोग की अपेक्षा

सुखं वाञ्छावशेषेऽपि यदस्ति नृपसम्भव।
तद्दु:खमेव जानीहि यत् कृमिष्वपि सम्भवेत्॥ २३॥
वरं तिर्यक्कीटकृमिप्रभृतीनां सुखन्तु यत्।
स्वल्पवाञ्छासम्मिलितं नृणां किं स्यात् सुखं वद॥ २४॥
वाञ्छाशतसमाविष्टो यदि किञ्चिदुपेत्य तु।
सुखी भवेदिह तदा को हि न स्यात् सुखी वद॥ २५॥
अखिलाङ्गे वह्निदग्धे सूक्ष्मपाटीरबिन्दुना।
यदि शीतलदेह: स्यात् तदा सोऽपि सुखी भवेत्॥ २६॥

राजकुमार, मन में किसी-न-किसी वस्तु की चाह रहते हुए जो सुख मिलता है, उसे आप सुख न मानें। ऐसा सुख तो कीड़े-मकोड़ों में भी संभव है॥ २३॥

कीड़े-मकोड़े और पशु-पक्षियों का सुख तो थोड़ी चाह वाला होता है, इसलिए तो वह अच्छा है। परन्तु आप ही बतलायें कि मनुष्य को भला क्या सुख हो सकता है? क्योंकि उसके सुख के साथ तो सैकड़ों चाहें जुड़ी हैं। यदि उनमें मात्र कुछ इच्छाओं की सम्पूर्ति से ही वह सुखी है, तो फिर ऐसा कौन है, जिसे सुखी न कहा जाय॥ २४–२५॥

विशेष—विरक्ति की प्रतिमूर्त्ति हेमलेखा भोग में आकण्ठ लिप्त सांसारिक पति को जीवन-दर्शन का बोध कराना चाहती है। जीवन के यथार्थ सुख एवं दु:ख का बड़े ही कलात्मक ढंग से विवेचन करती हुई कहती है—मैं दु:ख में हूँ या सुख में; इसका विवेचन तो मनुष्य को स्वयं करना है। इसी उत्तर पर व्यक्ति का यथार्थ जीवन निर्भर करता है। तथाकथित सांसारिक भोगजन्य सुख के पीछे झाँकना है; भुलावों और आत्मवंचनाओं के आवरण को उघार कर देखना है। उसे जो वस्तुत: यथार्थ है, जानने को स्वयं के समक्ष नग्न होना जरूरी है। सुख के झूठे आवरणों के हटते ही दु:ख की अतल गहराइयाँ अनुभव में आने लगती हैं। घने अंधेरे और संताप का दु:ख अनुभूत होता है। भय होता है। पुन: अपने उन्हीं आवरणों को ओढ़ लेने का जी करता है। इस तरह डर कर संसार में सुख बुद्धि से दु:ख को ढाँक लेते हैं, उन्हें कभी सही सुख उपलब्ध नहीं होता। दु:ख को ढांकना नहीं मिटाना है और उसे मिटाने के लिए उसे सही रूप में जानना आवश्यक है।

साधारणत: जिसे हम सुखी जीवन कहते हैं, वह भ्रम के अतिरिक्त और है ही क्या? और जिसे हम संसार में सफल जीवन कहते हैं; वह सांसारिक सफलता प्राप्त करने के सिवाय और है ही क्या? जीवन में सन्निहित दु:ख को जो धन की या यश की या काम की मादकता में भूलने में सफल मालूम होते हैं, उन्हें संसार के लोग सफल मानते हैं। परन्तु सत्य तो इससे कुछ भिन्न है। ऐसे लोग जीवन पाने में नहीं, गँवाने में सफल हो गये हैं। इसके पीछे छिपे दु:ख को भूल कर सुख के भ्रम में यह आत्मघात के सिवाय और है ही क्या? सांसारिक दु:ख के प्रति जागरण सुख की सही दिशा निर्दिष्ट कर देता है।

प्रियायाः सम्परिष्वङ्गात् सुखं प्राप्नोति वै नरः ।
तत्रैवाङ्गस्य विषमबन्धाद् दुःखं भवेन्ननु ॥ २७ ॥
रत्यावेशात् परिश्रान्तिः सर्वेषां जायते किल ।
अनन्तरं भारवाहपशोरिव परिश्रमः ॥ २८ ॥
कथं पश्यसि तत् सौख्यं नाथैतन्मे समुच्यताम् ।
यावत् सुखं प्रियासङ्गे नाडीसङ्घट्टसम्भवम् ॥ २९ ॥
तदास्ति तावन्न किमु शुनामस्तीह तद्वद ।
यत् ततो ह्यतिरिक्तं ते दृष्टसौन्दर्यसम्भवम् ॥ ३० ॥

ऐसे ही चिन्तन से व्यक्ति की निद्रा टूटती है। सही सुख का बोध होता है। जो व्यक्ति दुःख या संताप से घबड़ाकर पलायन नहीं करता है; वही रुककर उन्हें सही रूप में पहचानने की चेष्टा करता है; वह अपने भीतर एक अभूतपूर्व चैतन्यजन्य सुख को प्राप्त कर लेता है। यह अनुभूति उसमें अभिनव क्रान्ति का साक्षी बन जाती है। सुख की सही पहचान उसे आमूल परिवर्तित कर देती है। वह अँधेरे को टूटते देखता है। दुःख को भागते परखता है। वह देखता है कि उसकी चेतना के रन्ध्र-रन्ध्र में सुख का सही प्रकाश परिव्याप्त हो रहा है। इस प्रकाश में पहली बार वह जानता है कि संसार क्या है ? सुख क्या है ? दुःख किसे कहना चाहिए ?

दुःख के सच्चे स्वरूप को जान लेना ही सुख को जान लेना है। इस बोध के साथ ही उसका दुःख विसर्जित हो जाता है। दुःख अपने अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संसार को पहचानते ही व्यक्ति चिरन्तन सुख का अधिकारी हो जाता है। वह जो प्रत्येक व्यक्ति के भीतर है; सच्चिदानन्द है। उसकी अनुभूति ही असली सुख है। इस सच्चाई को जानना सुख को पा लेना है।

जिसकी सारी देह आग की ज्वाला में झुलस रही हो, उसे बादल या चन्दन का एक छोटा-सा कतरा कैसे ठंडक पहुँचा सकता है ? अगर यह संभव है तो सांसारिक चाहवाला पुरुष भी सुखी हो सकता है ॥ २६ ॥

कहते हैं कि प्रियतमा के आलिङ्गन में सुख मिलता है। पर देखिए, पुरुष के द्वारा देह जकड़ लिए जाने पर दुःख तो वहाँ भी होता है ॥ २७ ॥

रतिक्रिया में भी जोश ठंडा होने पर तो सबको थकान महसूस होती ही है। रतिक्रिया के अन्त में तो बोझा ढोनेवाले जानवरों की तरह व्यक्ति हाँफता तो है ही ॥ २८ ॥

प्रियतम, आप मुझे इतना भर बतला दीजिए कि इसमें आपको सुख कैसे मिलता है ? नाड़ियों की रगड़ से जितना सुख किसी को अपनी प्रियतमा के सम्भोग से मिलता है, सोचिये, क्या उतना ही सुख एक कुत्ते को कुतिया के सहवास में नहीं मिलता ॥ २९½ ॥

यदि आप यह कहें कि प्रियतमा का सौन्दर्य देखने से कुतिया के संभोग की अपेक्षा

तत् केवलाभिमानोत्थं स्वाप्नस्त्रीसङ्गमे यथा ।
पुरा कश्चिद्राजसुतो मन्मथाधिकसुन्दरः ॥ ३१ ॥
काञ्चित् सुरूपिणीं प्राप्तः स्त्रियं सर्वमनोहराम् ।
अत्यन्तमनुरक्तः स तस्यां राजकुमारकः ॥ ३२ ॥
सा त्वन्यस्मिन् राजसुत भृत्ये संसक्तमानसा ।
स भृत्यो राजपुत्रं तं वञ्चयामास युक्तितः ॥ ३३ ॥
मदिरां मोहनार्थाय तस्मै दत्त्वातिमात्रकम् ।
ततो मदान्धाय चेटीं काञ्चित् प्रेष्य कुरूपिणीम् ॥ ३४ ॥
बुभुजे तां तस्य पत्नीं सर्वलोकैकसुन्दरीम् ।
एवमेव चिरं तत्र मदान्धो नृपतेः सुतः ॥ ३५ ॥
प्रत्यहं चेटिकां गच्छन् स्वात्मानं सममंसत ।
धन्योऽहमीदृशीं लोकसुन्दरीं प्राणप्रेयसीम् ॥ ३६ ॥
उपगच्छाम्यहं नित्यं न मेऽस्ति सदृशः क्वचित् ।
एवं वृत्ते चिरे काले कदाचिद् दैवयोगतः ॥ ३७ ॥
भृत्यो निधाय पानं स कार्ये चात्यन्तिके ययौ ।
अथ राजकुमारस्तत् पानं नात्यन्तिकं पपौ ॥ ३८ ॥

कहीं अधिक सुख मिलता है तो फिर स्वप्नसुन्दरी के साथ संभोग की ही तरह यह भी एक मानने की ही बात है ॥ ३०$\frac{1}{2}$ ॥

पुराने जमाने की बात है, कोई एक राजकुमार था। सौन्दर्य में वह मदन से भी अधिक मनोहर था। उसे पत्नी भी रति से अधिक सुन्दर तथा सब तरह से मनोहारिणी मिली थी। राजकुमार को अपनी पत्नी में पूर्ण आसक्ति भी थी ॥ ३१–३२ ॥

किन्तु, उस दिव्य सुन्दरी का मन राजकुमार के एक नौकर में रमा था। नौकर भी बड़ा धूर्त था। वह बड़ी होशियारी से राजकुमार को धोखा दिया करता था ॥ ३३ ॥

उसे ज्यादा-से-ज्यादा तीखी शराब पिलाकर मदहोश कर देता था। फिर उसकी तीमारदारी में एक बदसूरत कनीज को भेज देता और खुद उस त्रिलोकसुन्दरी के साथ संभोग करता ॥ ३४$\frac{1}{2}$ ॥

यह सिलसिला बहुत दिनों तक चलता रहा। मदहोश राजकुमार उस बदसूरत कनीज को त्रिलोकसुन्दरी अपनी प्राणप्रिया मानकर हर रोज उसके साथ संभोग करता और अपने को धन्य मानता था। इस उपभोग के लिए अपने समान किसी को भाग्यवान् नहीं समझता था ॥ ३५–३६$\frac{1}{2}$ ॥

यह क्रम बहुत दिनों तक जारी रहा। फिर एक दिन किसी काम से नौकर को बाहर जाना था। उसके नियत स्थान पर शराब रख दी और चला गया। राजकुमार

निमित्ततो ययौ शीघ्रं रत्युत्सुकितमानसः ।
शयनीयं मनः कान्तं सर्वभोगर्द्धिसंयुतम् ॥ ३९ ॥
शचीगृहं देवपतिरिव नन्दनसंस्थितम् ।
परार्द्ध्यपर्यङ्कगतां तां चेटीमुपसङ्गतः ॥ ४० ॥
कामवेगेन विवशो बुभुजेऽत्यन्तहर्षतः ।
उपलभ्याथ रत्यन्ते चेटीं तां विकृताकृतिम् ॥ ४१ ॥
शङ्कितोऽमर्षितश्चापि किमेतदिति चिन्तयन् ।
क्व सा मम प्रियतमेत्येवं तामन्वपृच्छत ॥ ४२ ॥
पृष्टैवं तेन सा चेटी विमदन्तं निशम्य तु ।
भीता न किञ्चित् तं प्राह वेपमाना तदा ततः ॥ ४३ ॥
आलक्ष्य राजपुत्रोऽपि वैषम्यं चात्मवञ्चनम् ।
वामेन जग्राह कचे चेटीं क्रोधारुणेक्षणः ॥ ४४ ॥
कृपाणमाददे दक्षहस्तेन नृपसम्भवः ।
तर्जयंस्तां प्रत्युवाच वद वृत्तं यथातथम् ॥ ४५ ॥
नो चेन्न स्याज्जीवितं ते क्षणमात्रमपि द्रुतम् ।

ने भी किसी वजह से ज्यादे शराब नहीं पी । भोग की चाह से कामातुर कुमार शीघ्र ही विलास-भवन पहुँच गया ॥ ३७–३८½ ॥

वह विलास-भवन अति आकर्षक, मनमोहक तथा अनेक तरह की भोग-सामग्रियों से भरा पड़ा था । नन्दनकानन में अवस्थित शचीभवन में जैसे देवराज इन्द्र प्रवेश करते हैं, उसी तरह राजकुमार ने उस विलास गृह में प्रवेश किया । वहाँ बेशकीमती पलंग पर पहले से सोयी कनीज के साथ काम-क्रीड़ा में मशगूल हो गया ॥ ३९–४० ॥

कामातुर राजकुमार बड़ी खुशी से उस कनीज के साथ संभोग करता रहा । काम का नशा उतरते ही उसे वस्तुस्थिति का बोध हुआ । उस बदशक्ल कनीज को उस स्थिति में देखकर उसे शंका हुई । क्रोध से काँपते हुए उसने सोचा—यह सब क्या हो रहा है ? उसने पूछा—मेरी प्रियतमा कहाँ है ? ॥ ४१–४२ ॥

राजकुमार का सवाल सुनकर दासी सकपका गई । उसने देखा, राजकुमार तो आज पूरे होश में है । घबड़ाहट के मारे उसकी घिग्घी बँध गई ॥ ४३ ॥

राजकुमार ने जब अपने आपको बुरी तरह ठगे जाते देखा तो क्रोध के मारे उसकी आँखें लाल हो गईं । उसने लपक कर उस कनीज के बाल बायें हाथ से पकड़ लिये और दाहिने हाथ से तलवार खींच ली । फिर उसे डाँटते हुए कहा—सारी बातें सच-सच बतला दे । अन्यथा एक पल भी इस दुनिया में तुम्हारा रहना सम्भव नहीं है ॥ ४४–४५½ ॥

सैवं निशम्य तद्वाक्यं भीता प्राणपरीप्सया ॥ ४६ ॥
जगौ यथावत् तत् सर्वं चिराद् वृत्तं समास्थितम् ।
प्रादर्शयच्चापि तस्मै तां भृत्येन सुसङ्गताम् ॥ ४७ ॥
क्वचिद् भूमौ कटे भृत्यं कृष्णं पिङ्गललोचनम् ।
प्रांशुं मलिनसर्वाङ्गं रूक्षवक्त्रं जुगुप्सितम् ॥ ४८ ॥
समाश्लिष्य रतिश्रान्तां सर्वाङ्गैः प्रेमभावतः ।
मृदुबाहुलतावृत्तग्रीवस्य वदने स्वकम् ॥ ४९ ॥
निवेश्य वक्त्रकमलं पद्भ्यामाश्लिष्य गाढतः ।
तस्योरुयुग्मं तद्धस्तसंसक्तगुरुसुस्तनीम् ॥ ५० ॥
वासन्तिकामिव लतां वृतां कुसुमकोरकैः ।
रोहिणीं राहुणोपेतामिवापश्यन्नृपात्मजः ॥ ५१ ॥
एवंविधां समालोक्य निद्रयापगतस्मृतिम् ।
मोमुह्यमानश्चात्यन्तं क्षणं पश्चाद्धृतिं भजन् ॥ ५२ ॥
यत् प्राह राजतनयस्तन्मत्तः श्रूयतां ननु ।
धिङ्मामनार्यमत्यन्तं मूढं मदविमोहितम् ॥ ५३ ॥
धिग्ये स्त्रीष्वभिसम्प्रीता धिक् तांश्च पुरुषाधमान् ।
न कामिन्यः कस्यचित् स्युर्वृक्षस्येव च शारिकाः ॥ ५४ ॥

राजकुमार की बातें सुनकर वह बुरी तरह डर गई । अपनी जान बचाने के लिए बहुत दिनों से जो कुछ हो रहा था, सच-सच उगल दिया । साथ-साथ उस नौकर के साथ रतिक्रीड़ा में लिप्त उसकी पत्नी को भी प्रत्यक्ष दिखला दिया ॥ ४६–४७ ॥

राजकुमार ने देखा— उसकी वह त्रिलोकसुन्दरी पत्नी धरती पर बिछी एक चटाई पर उस नौकर को अंग-प्रत्यङ्गों से आलिंगित किये पड़ी है । वह नौकर काला-कलूटा है । उसकी आँखें लाल-लाल हैं । देह लम्बी है । सारे-के-सारे अंग मलिन हैं । चेहरा घोड़ानुमा और रूखड़ा है जो अत्यन्त घृणित है । रतिश्रम से वह थका-थका-सा लगता है । अपनी कोमल बाहुलताओं को उसके गले में डालकर उसने अपने कमल मुख को उसके गन्दे मुँह से सटा रखा है । अपने पैरों से उसकी दोनों टाँगों को जकड़ रखा है । उसके पीनपयोधर उस नौकर के गन्दे हाथों में कसे हैं । उस समय वह ऐसी लगती थी जैसे कुसुम कलियों से घिरी वासन्तिका लता हो । अथवा राहु-ग्रसित रोहिणी हो ॥ ४८–५१ ॥

गाढ़ी नींद में मदहोश पड़ी अपनी पत्नी को इस हालत में देखकर कुछ क्षण के लिए राजकुमार अपने आपको ही भूल गया । फिर हालात से निपटने के लिए धीरज के साथ उसने जो कुछ कहा, वह मुझसे सुनिये ॥ ५२½ ॥

शराब पीकर नशे में चूर मेरे जैसे नीच और महामूर्ख को धिक्कार है । इन औरतों जिनके मन का बहुत ज्यादे लगाव है, वैसे नीच लोगों को भी धिक्कार है ।

किमहं मां प्रवक्ष्यामि मुग्धं महिषपोतवत् ।
जानन्तमेनां प्राणेभ्यः प्रेष्ठां सुचिरकालतः ॥ ५५ ॥
न स्त्रियः कस्यचिद्वा स्युर्वेश्या इव विटस्य हि ।
यः स्त्रीषु विश्रब्धमनाः स एव वनगर्दभः ॥ ५६ ॥
या स्थितिः शारदाभ्रस्य क्षणिका ह्यनवस्थिता ।
ततोऽपि पेलवा स्त्रीणां स्थितिरत्यन्तचञ्चला ॥ ५७ ॥
नाहमद्यावधि ह्येवं स्त्रीस्वभावमहोऽविदम् ।
यन्मां सर्वात्मनासक्तं त्यक्त्वा भृत्यमनुव्रता ॥ ५८ ॥
अन्यासक्ता गूढभावा मयि छद्मानुरागिणी ।
प्रदर्शयन्ती भक्तिं स्वां नटीव विटमण्डले ॥ ५९ ॥
नाविदं लेशतोऽप्येनां मदिरामत्तमानसः ।
छायेव मां सङ्गतेति मत्वा विश्रब्धमानसः ॥ ६० ॥

...-तहाँ चारा चुगनेवाली ये मैना जैसे किसी एक पेड़ की नहीं हो सकती, उसी तरह ... औरतें भी किसी एक पुरुष की नहीं हो सकती हैं ॥ ५३–५४ ॥

मैं अपने आप को ही भला क्या कहूँ । भैंस के बच्चे की तरह अरसे तक इस ...रत के भुलावे में छलता रहा हूँ । अरसे से इस पर अपनी जान कुरबान करता ... हूँ ॥ ५५ ॥

वेश्या जैसे किसी एक कामुक के वश की नहीं होती, उसी तरह ये औरतें भी ...सी एक पुरुष की नहीं होतीं । जो पुरुष इन पर विश्वास करता है, वह तो जंगली ...हा ही है ॥ ५६ ॥

...वार से कातिक महीने तक मेघ की हालत जैसे क्षणिक और अस्थाई होती ..., इन औरतों की स्थिति तो उससे भी बदतर है । इन्हें तो अत्यन्त चंचल ही ...झना चाहिए ॥ ५७ ॥

अफसोस ! इस औरत की ऐसी बद-मिजाजी आज तक मैं जान नहीं सका । मैं ... जी-जान से इस पर फिदा था और यह औरत मुझे छोड़कर मेरे ही एक बदशकल ...ना नौकर के इश्क में पागल है ॥ ५८ ॥

इसके मन का लगाव तो किसी दूसरे आदमी के साथ था । पर अपनी चाल को ...ने बड़ी खूबी के साथ मुझसे छिपाया । अभिनेत्री जैसे विटों के सामने अपनी बना-...टी प्यार दिखाकर उन्हें झाँसा देती है, उसी तरह यह औरत मुझे धोखा देकर ... प्रेम का स्वांग भरती रही है ॥ ५९ ॥

मेरा मन शराब पी-पीकर ऐसा मदहोश होता रहा कि जरा भी इसकी चाल ... पहचान न सका । मेरे मन को विश्वास में लेकर ही इसने ऐसा किया । मैं ...सदैव यही सोचता रहा कि यह तो छाया की तरह निरन्तर मेरी अनुगामिनी ... ॥ ६० ॥

अप्रेक्षणीयां चेटीं तां वञ्चितश्चिरसङ्गतः ।
नूनं मत्तो मूढतमः को भवेज्जगतीतले ॥ ६१ ॥
य एवं विस्रम्भपूर्वमनया चिरवञ्चितः ।
अहोऽयं भृत्यहतकः सर्वाङ्गविकृताकृतिः ॥ ६२ ॥
किमस्मिन्ननया दृष्टं सौन्दर्यं सर्वतोऽधिकम् ।
यतो मां निजसौन्दर्याहृतलोकावलोकनम् ॥ ६३ ॥
अनुरक्तं सर्वथैव त्यक्त्वैनमुपसङ्गता ।
एवं प्रलप्य बहुधा निर्विण्णोऽतितरां तदा ॥ ६४ ॥
राजपुत्रो वनं प्रागात् सर्वसङ्गविवर्जितः ।
तस्माद्राजकुमारैस्तत् सौन्दर्यं मनसोत्थितम् ॥ ६५ ॥
यथा त्वं मपि चात्यन्तसौभगेक्षणपूर्वकम् ।
रतिं विन्दस्यतितरां तथा वा तद्विशेषतः ॥ ६६ ॥
विन्दन्ति रतिमत्यन्तं योषित्सु विकृतास्वपि ।
अत्र ते प्रत्ययं वक्ष्ये शृणु प्रिय समाहितः ॥ ६७ ॥
विलोक्यते या हि योषित् सा बहिःसुव्यवस्थिता ।
या च तत्प्रतिबिम्बात्मरूपिणी चित्तसंश्रया ॥ ६८ ॥

इसके झाँसे में आकर एक लम्बे अरसे तक मैं उस कनीज के साथ सम्भोग करता रहा, जिसकी ओर देखने में भी अब दुःख होता है। भला मुझसे बढ़कर बेवकूफ इस दुनिया में कौन हो सकता है, जिसे अपने विश्वास में लेकर आज तक इस तरह धोखा देती रही ॥ ६१½ ॥

वाह रे नमकहराम नौकर, बेडौल और बदशकल। भला इसमें उसे कौन-सी खूबसूरती दिखलाई दी जो इसने मुझे छोड़कर इसका पल्ला पकड़ लिया। मेरी खूबसूरती ने तो सबके मन को मोह लिया है और मैं भी तो इसके दिलकश रूप पर फिदा था ॥ ६२–६३½ ॥

इस तरह अनुतप्त राजकुमार कुछ देर तक बड़बड़ाते हुए संसार से बिलकुल विरक्त होकर हर तरह की आसक्ति से मुँह मोड़कर जंगल की ओर चल दिया ॥ ६४½ ॥

अतः हे राजकुमार! खूबसूरती तो अपने मन की उपज है। जैसे मेरी खूबसूरती देखकर आपको मुझसे कामजनित सुख मिलता है उससे भी ज्यादा सुख किसी बदशक्ल औरत से भी मिल ही जाता है। प्रियतम, इसके बारे में मैं आपको सही ढंग से समझाती हूँ। आप सचेत होकर सुनें ॥ ६५–६७ ॥

बाहर से जो औरत दिखलाई देती है वह तो बाहर है ही, भीतर तो है उसके दिलकश रूप का खूबसूरत साया। दृढ़ निश्चय के सहारे मन से उसमें खूबसूरती की

सङ्कल्परूपिणी तस्याः सौष्ठवं मनसोल्लिखन् ।
पौनःपुन्येन तदनु वाञ्छामुपसमागतः ॥ ६९ ॥
क्षुब्धेन्द्रियो नरस्तस्यां रतिमाप्नोति सर्वतः ।
अक्षुब्धे त्विन्द्रिये न स्यात् सुन्दर्यामपि वै रतिः ॥ ७० ॥
तत्र मूलं समुल्लेखः सौष्ठवस्य पुनः पुनः ।
अतः क्षोभो नैव दृष्टो बालानां योगिनामपि ॥ ७१ ॥
तथा च यो यो यस्यान्तु रतिं विन्दति मानवः ।
सुन्दर्यां वापि चान्यस्यां तत्र सौष्ठवमुल्लिखेत् ॥ ७२ ॥
दृश्यन्ते योषितोऽत्यन्तबीभत्साकारविग्रहाः ।
तरुणैः सङ्गतास्ताश्च दृश्यन्तेऽपत्यहेतुतः ॥ ७३ ॥
विरूपतोल्लेखनं वाप्यनुल्लेखस्तु सौष्ठवे ।
यदि स्यात्तत् कथं नृणां रतिस्तासु हि सम्भवेत् ॥ ७४ ॥
किं वक्तव्यमहो नृणां कामिनां क्षिप्तचेतसाम् ।
जघन्याङ्गेऽपि सौन्दर्यं भासते सर्वतोऽधिकम् ॥ ७५ ॥
मलमूत्रपरिक्लिन्नं यदङ्गं तत्र सौभगम् ।
पश्येच्चेत् कुत्र नो पश्येत् सौन्दर्यं तन्ममेरय ॥ ७६ ॥

कल्पना हो जाती है। उसकी याद बार-बार दुहराती है, जिससे मन में उसे भोगने की इच्छा जगती है। इस इच्छा के सामने मन की सारी इच्छाएँ दब जाती हैं। लिंग में विचलन होने के कारण उसी में पुरुष को कामसुख की अनुभूति होती है। यदि जननेन्द्रिय में क्षोभ न हो तो फिर खूबसूरत से भी खूबसूरत औरत में भी पुरुष को रतिसुख नहीं मिले ॥ ६८-७० ॥

इस हलचल का कारण है—मन में बारंबार उस खूबसूरती की यादगारी। यही कारण है कि बच्चों और योगियों के मन में हलचल होते दिखाई नहीं देती है॥ ७१॥

इसका मतलब यह हुआ कि खूबसूरत या बदसूरत जिस औरत में जिस पुरुष को कामसुख का बोध होता है, उसी में उसके सौन्दर्य का वह रूप विधान कर लेता है ॥ ७२ ॥

ऐसी औरतें भी देखी जाती हैं, जिनका रूप-रंग बेडौल और भोड़ा है, बदसूरत हैं फिर भी उन्हें सन्तान है। इसका मतलब साफ है, किसी-न-किसी युवक के साथ उनका संगम हुआ है ॥ ७३ ॥

यदि उनमें बदसूरती का रूप विधान होता अथवा मन में उनकी खूबसूरती नहीं उभड़ती तो फिर किसी पुरुष को उनमें रतिसुख कैसे मिल सकता था ? ॥ ७४ ॥

कामवेग के कारण रुग्ण एवं भ्रान्त चित्तवाले इन प्रेमरोगी पुरुषों के बारे में क्या कहा जाय ? जिन्हें औरतों के सबसे ज्यादा घिनौने अंग में भी सर्वाधिक सौन्दर्य का बोध होता है ॥ ७५ ॥

तस्मात् सौन्दर्यमेतद्वै राजपुत्र निशामय ।
अभिमानमृते नैष सुखहेतुर्भवेत् क्वचित् ॥ ७७ ॥
क्षौद्रमाधुर्यवद्देहे सौन्दर्यं सहजं यदि ।
तद्बालानां कुमाराणां कुतो नो भाति तद्वद ॥ ७८ ॥
देशभेदेषु दृश्यन्ते विविधाकृतयो नराः ।
एकपादैकनयना लम्बकर्णा हयाननाः ॥ ७९ ॥
कर्णप्रावरणाः फालवक्त्रा निर्गतदंष्ट्रकाः ।
विनसा दीर्घनासाश्च लोमच्छन्ना विलोमकाः ॥ ८० ॥
पिङ्गकेशाः श्वेतकेशा विकेशाः स्थूलकेशकाः ।
चित्रवर्णाः काकवर्णाः पिङ्गला लोहिताङ्गकाः ॥ ८१ ॥
एवं बहुविधा मर्त्याः सजातिवनितासु ते ।
रतिं विन्दन्ति त्वमिव राजपुत्र निशामय ॥ ८२ ॥
सुखसाधनभूतेषु मुख्यं यत् स्त्रीवपुःस्थितम् ।
सर्वप्रियं यत्र सर्वे मुह्यन्ति विबुधा अपि ॥ ८३ ॥

मुझे आप ही बतलायें, पेशाब और पाखाने भरे अंग में भी जिस मूर्ख को खूबसूरती नजर आती हो उसे औरतों के किस गलित अंग में सौन्दर्य का बोध नहीं हो सकता ? ॥ ७६ ॥

अत: हे राजकुमार ! आप ध्यान लगाकर सुनें, यह खूबसूरती मन में बिना किसी के रूप-विधान के कहीं भी किसी के सुख का कारण नहीं बन सकती है ॥ ७७ ॥

शहद की मिठास की तरह ही खूबसूरती को भी देह का असर मान लिया जाय तो फिर इस खूबसूरती का असर छोटे बच्चों पर क्यों नहीं पड़ता ? ॥ ७८ ॥

अलग-अलग जगहों में अलग-अलग ढंग के पुरुष भी देखे जाते हैं । लँगड़े, काने तो कहीं लम्बे कानवाले और कहीं घोड़ानुमा मुँहवाले लोग होते हैं ॥ ७९ ॥

कहीं चिपटे कानवाले लोग होते हैं तो कहीं के लोगों का मुँह हल में लगी लोहे की फाल की तरह लमतोड़ होता है, जिनकी दाढ़ें बाहर की ओर निकली होती हैं । कुछ लोगों को नाक होती ही नहीं तो कुछ की नाकें लम्बी होती हैं । किसी की सारी देह रोयें से ढकी होती हैं तो किसी की देह में रोयें होते ही नहीं हैं ॥ ८० ॥

कुछ के बाल पीले होते हैं तो कुछ के सफेद । कुछ के सिर में सघन केश होते हैं तो कुछ गंजी खोपड़ीवाले होते हैं । कोई श्वेतकुष्ठ के कारण चितकबरे होते हैं तो कोई कौए की तरह काले, कोई पीले तो कोई लाल देहवाले होते हैं ॥ ८१ ॥

राजकुमार ! ऐसे ही अनेक तरह के पुरुष होते हैं । आप इसे निश्चित रूप से मानिए । वे सभी सजातीय स्त्रियों में आपकी ही तरह रतिसुख का अनुभव करते हैं ॥ ८२ ॥

सुख के साधनों में नारी-देह को सर्वाधिक प्रमुखता दी जाती है । क्योंकि नारी-

पुंसां वपुस्तथा स्त्रीणां प्रियमत्यन्तसुन्दरम् ।
विमर्शय सुबुद्धया त्वं राजपुत्र यथास्थितम् ॥ ८४ ॥
मांसलिप्तमसृक् क्लिन्नं शिराबद्धं त्वगाततम् ।
अस्थिपञ्जरकं लोमच्छन्नं पित्तकफाहितम् ॥ ८५ ॥
मलमूत्रकुसूलं तच्छुक्रशोणितसम्भवम् ।
मूत्रद्वारसमुद्भूतमहो प्रियमिहेष्यते ॥ ८६ ॥
य एवमतिबीभत्से वितन्वन्ति रतिं नराः ।
विट्कृमिभ्यः कुतस्तेषां भवेदन्तरमीरय ॥ ८७ ॥
राजपुत्र तनुरियं प्रिया हि नितरां तव ।
विभावय विवेकेन धातूनाञ्च पृथक्स्थितिम् ॥ ८८ ॥
एवमन्यत्रोपयोज्ये मधुराम्लादिषड्रसे ।
परिणामस्वभावन्तु सूक्ष्मदृष्ट्या विभावय ॥ ८९ ॥
भक्षितस्यापि सर्वस्य विड्भावः परिणामके ।
सर्वथा नात्र सन्देहः सर्वैरेव विभावितः ॥ ९० ॥
यदैवं संस्थिते लोके किं प्रियं स्यात् किमप्रियम् ।

[illegible] सभी को प्रिय है। देवताओं को भी यह मोहित कर लेती है। इसी तरह औरतों के लिए पुरुष-शरीर भी अत्यन्त प्रिय होता है। वह उसे सर्वाधिक सुन्दर प्रतीत होता है। हे राजपुत्र ! आप इस पर थोड़ा विचार करें कि यह यथार्थ क्या है ? ॥८३–८४॥

यह देह मांस में लिपटी है। लोहू से लथपथ है। नस और नाड़ियों से बँधी है। खाल से ढँकी है। हड्डियों का ढाँचा है। रोयें में छिपी और कफ-पित्त से [illegible] है ॥ ८५ ॥

इतना ही नहीं, यह देह तो पेशाब और पाखाने का बखार है। इसकी पैदाइश [illegible] है। पेशाब निकलने की राह से निकली इस घिनौनी देह को ही लोग [illegible] मान बैठते हैं ॥ ८६ ॥

बताइये, जो लोग ऐसी घिनौनी देह से प्यार करते हैं, उनमें और पाखाने के [illegible] क्या फर्क पड़ता है ॥ ८७ ॥

राजकुमार ! आपको जो यह देह बहुत ज्यादे प्यारी-प्यारी लगती है जरा समझ-[illegible] इसके लहू और मज्जा आदि इसे बनाये रखनेवाले पदार्थ की अलग-अलग [illegible] पर तो विचार कीजिए ॥ ८८ ॥

[illegible] बात खाने-पीने की दूसरी वस्तु के साथ भी है। उन षड्रस (छः प्रकार के [illegible] स्वाद—मीठा, नमकीन, तीता, कड़वा, कसैला और खट्टा) पदार्थों के रूपान्तर [illegible] असर का भी आप बारीक बुद्धि से विचार करें ॥ ८९ ॥

[illegible] बात सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं। अतः इसमें थोड़े भी शक की

इत्युक्तो हेमचूडोऽथ वैरस्यं विषये विदन् ॥ ९१ ॥
श्रुत्वाऽपूर्वं वाक्यजालं विस्मितोऽभवदञ्जसा ।
विचार्य भूयस्तत् सर्वं यदुक्तं हेमलेखया ॥ ९२ ॥
भोगेषु जातनिर्वेदः परं वैराग्यमाप्तवान् ।
अथ क्रमेण पृष्ट्वा तां प्रियां ज्ञात्वा च तत्पदम् ॥ ९३ ॥
केवलां चितिमात्मस्थां त्रिपुरामात्मरूपिणीम् ।
बुद्ध्वाऽभवद्विमुक्तात्मा स्वात्मभूताखिलेक्षणः ॥ ९४ ॥
जीवन्मुक्तः समभवत् ततस्तस्यानुजोऽपि हि ।
मणिचूडोऽविदद्भ्रातुर्मुक्ताचूडोऽपि पुत्रतः ॥ ९५ ॥
मुक्ताचूडप्रिया चापि स्नुषया ज्ञानमासदत् ।
मन्त्रिणश्चापि पौराश्च बभूवुर्ज्ञानशालिनः ॥ ९६ ॥
न तत्र नगरे कश्चिदविद्वान् समजायत ।
आसीद् ब्रह्मपुरप्रख्यं शान्तसंसृतिवासनम् ॥ ९७ ॥
विशालनगरं तच्च जगत्यत्युत्तमं बभौ ।
यत्र कीराः शारिकाश्च पञ्जरस्थाः पठन्ति वै ॥ ९८ ॥

गुंजाइश नहीं है कि हम जो कुछ खाते हैं, सबका रूपान्तर विष्टा ही है। इस हालत में आप ही बतलायें, संसार में क्या प्रिय है और क्या अप्रिय ? ॥ ९०½ ॥

ठीक ढंग से हेमलेखा की बातें सुनकर हेमचूड़ को भोगविलास से विरक्ति हो गई। उनका अनोखा वचनविन्यास सुनकर वह बेहद अचम्भित हुआ ॥ ९१½ ॥

हेमलेखा ने जो कुछ कहा, उन पर उसने खुद बारम्बार विचार किया। इस अनुचिन्तन से भोग-विलास में स्वतः अरुचि हो जाने के कारण परम वैराग्य की प्राप्ति हुई ॥ ९२½ ॥

इसके बाद इस सन्दर्भ में सिलसिलेवार ढंग से अपनी प्रियतमा से अनेक सवाल पूछकर उस परमपद के गूढरहस्य को जान लिया। यह परमपद स्वयं भगवती त्रिपुरा हैं जो सबकी आत्मा में समान रूप से अवस्थित हैं। मेरी आत्मा ही उनका स्वरूप है। वे केवल चैतन्य रूप हैं। यह आत्मबोध होते ही राजकुमार जीवन्मुक्त हो गया। अब सभी उसे आत्मरूप ही प्रतीत होने लगे ॥ ९३–९४ ॥

इसके बाद मणिचूड़ उसका छोटा भाई भी उससे ज्ञान प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो गया। राजा मुक्ताचूड़ ने भी अपने पुत्र से ही ज्ञान प्राप्त किया ॥ ९५ ॥

महारानी ने भी अपनी बहू हेमलेखा से ज्ञान प्राप्त किया। इसी तरह सारे के सारे सचिव और नगरनिवासी गण ज्ञान-सम्पन्न हो गये ॥ ९६ ॥

इस नगर में क्रमशः एक भी अज्ञानी शेष नहीं रहा। सबके मन में सांसारिक वासनाएँ समाप्त हो गईं। यह नगरी ब्रह्मपुरी की तरह ज्ञान-सम्पन्न प्रतीत होती थी ॥ ९७ ॥

चितिरूपं स्वमात्मानं भजध्वं चेत्यवर्जितम् ।
नास्ति चेत्यं चितेरन्यद् दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ।। ९९ ।।
चितिश्चेत्यं चितिरहं चितिः सर्वं चराचरम् ।
यतः सर्वं चितिमनु भाति सा तु स्वतन्त्रतः ।। १०० ।।
अतिश्रिर्ति जनाः सर्वे भासिनीं सर्वसंश्रयाम् ।
भजध्वं भ्रान्तिमुत्सृज्य चितिमात्रसुदृष्टयः ।। १०१ ।।
कदाचिदेवं कीराणां श्रुत्वा वाक्यं महोदयम् ।
ब्राह्मणा वामदेवाद्या नामाचख्युः पुरस्य तु ।। १०२ ।।
यतोऽत्र विद्यां तिर्यञ्चोऽप्याहुस्तस्मादिदं पुरम् ।
प्रसिद्धविद्यानगरमिति नाम्ना प्रसिद्धयतु ।। १०३ ।।
तदद्यापि च तेनैव नाम्ना तन्नगरं स्थितम् ।
राम तस्मात्तु सत्सङ्गो मूलं सर्वशुभोदये ।। १०४ ।।
सङ्गेन हेमलेखायाः सर्वे विद्याविदोऽभवन् ।
तस्मात् सङ्गः परं मूलं राम जानीहि श्रेयसः ।। १०५ ।।

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने
सत्सङ्गफलं चतुर्थोऽध्यायः ।।

वह विशाल नगरी संसार में सर्वाधिक श्रेष्ठ नगर के रूप में ख्यात हो गई। वहाँ पिंजरे के पंछी तोता-मैना भी ऐसे पढ़ते रहते थे ।। ९८ ।।

सांसारिक दृश्य पदार्थों को छोड़कर ज्ञानस्वरूप अपनी आत्मा को भज । क्योंकि आईने में प्रतिभासित बिम्ब की तरह चैत्य पदार्थ चिन्मात्र से भिन्न नहीं है ।। ९९ ।।

चितिः (चैतन्यज्ञान) ही चेत्य है, चिति ही मैं हूँ और चिति ही चराचर है, क्योंकि इन सबका भान चिति से ही होता है । चिति स्वयं प्रकाश है ।। १०० ।।

अतः हे लोगो ! भ्रम को छोड़कर केवल चैतन्यबोध पर ही अपनी दृष्टि स्थिर करते हुए सबको प्रकाशित करनेवाली और सबका सहारा चिति का ही भजन करो ।। १०१ ।।

कभी वामदेवादि ब्रह्मज्ञ ऋषियों ने तोता-मैना की ये सारगर्भित बातें सुनकर उस नगर का नाम ही बदल दिया ।। १०२ ।।

क्योंकि जब यहाँ की चिड़ियाँ भी ब्रह्मज्ञान की बातें करती हों तो फिर इस नगर का नाम आज से विद्यानगर होगा ।। १०३ ।।

अतः आज भी यह नगर विद्यानगर के नाम से विख्यात है । अतः हे परशुराम ! हर तरह के मंगल का मूल सत्संग ही है ।। १०४ ।।

मात्र एक हेमलेखा के सत्संग से वहाँ के सभी लोग ज्ञानी हो गये । अतः हे

परशुराम ! यह निश्चय ही जानो, किसी भी तरह के कल्याण की जड़ सत्सङ्ग ही है ॥ १०५ ॥

विशेष —इस सन्दर्भ में हेमलेखा ने अपने शरीर में आसक्त प्रिय पति को अनेक तर्कों, युक्तियों और उदाहरणों से भोग-विलास के प्रति विरति और आत्मरति का पाठ पढ़ाया है। आत्मस्वरूप चैतन्य ज्ञान के अभाव में व्यक्ति भटकता है। ज्ञान की पूर्ण शुद्धावस्था ही आत्मज्ञान है। ज्ञान की अपनी विशिष्ट शक्ति है। परन्तु व्यक्ति संसार में, भोग-विलास में या सांसारिकता में इतना अधिक डूब जाता है कि उसकी ज्ञान-शक्ति किसी-न-किसी ज्ञेय से - विषयों से, पदार्थों से ढक जाती है। एक विषय हटता है तो दूसरा घेर लेता है। एक विचार जाता है दूसरा आ जाता है। वासना का प्राङ्गण इतना विस्तृत है, पदार्थ की शक्ति इतनी सबल है कि ज्ञान एक विषय से मुक्त होता है तो दूसरे से बँध जाता है, लेकिन रिक्त नहीं हो पाता है। यदि ज्ञान विषय से रिक्त हो, उस अन्तराल में, उस रिक्तता में, उस शून्यता में ज्ञान स्वयं में होने के कारण ज्ञान स्वयं की सत्ता का उद्घाटक बन जाता है। विषय-रिक्त ज्ञान स्वप्रतिष्ठ हो जाता है। यहीं से आत्मोपलब्धि का द्वार खुल जाता है। चिति रूपा भगवती त्रिपुरा आत्मज्ञानस्वरूपा बन जाती है। स्व और पर का भेद मिट जाता है।

ज्ञान जहाँ ज्ञेय से मुक्त है, वहीं वह शुद्ध है और यह शुद्धता एवं शून्यता ही आत्मज्ञान है; भगवती त्रिपुरा का साक्षात्कार है। चेतना जहाँ निर्विचार है, निर्विकल्प है, वहीं जो अनुभूति है, वही चितिरूप में आत्मा का साक्षात्कार है।

किन्तु आत्मा के इस साक्षात्कार में न कोई ज्ञाता है और न ज्ञेय है। यह अनुभूत अभूतपूर्व है। इसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। यह शब्दातीत है।

भगवती त्रिपुरा आत्मस्वरूपा है, चिति अर्थात् ज्ञानस्वरूपा है। आत्मज्ञान ही उनका साक्षात्कार है। इस आत्मज्ञान की खोज में जो व्यक्ति आत्मा को ज्ञेय पदार्थ की भाँति खोजने की चेष्टा करता है, प्रथम चरण में ही उसके पैर गलत दिशा में पड़ जाते हैं। यह आत्मा ज्ञेय नहीं है और न ही उसे किसी सांसारिक आकांक्षा का लक्ष्य ही बनाया जा सकता है, क्योंकि वह सांसारिक विषय नहीं है। इस खोज में खोज और खोजी भिन्न नहीं है। अतः आत्मा को वे ही खोज पाते हैं जो सब खोज छोड़ देते हैं और वे ही जान पाते हैं जो संसार को जानने में शून्य हो जाते हैं।

इसके लिए सब कुछ खोना पड़ता है। पाना कुछ नहीं है। वासना, तृष्णा, भोग-विलास और संसार सब कुछ खोकर भी जो पाया जाता है वह सदा से पाया हुआ है। इस स्वरूप को पाने के लिए चेतना से उन सबको खोना आवश्यक है जो क्षणिक है, नश्वर है। शाश्वत् की खोज ही आत्मोपलब्धि है।

मनुष्य एक अद्भुत पौधा है। उसमें विष और अमृत दोनों के फूल लगने की संभावना है। वह स्वयं के चित्त को यदि संसार में सांसारिक भोग-विलास में परि-

पालित करे तो विष के फूलों को उपलब्ध हो जाता है और चाहे तो आत्मसाक्षात्कार को अपने में जाग्रत् कर अमृत के फूलों को पा सकता है।

इस अध्याय में कथा के उदाहरण से सत्संग की महिमा पर काफी बल दिया गया है। सत्संग में ही साक्षात् ब्रह्म, मंत्रध्वनियों में दैवीशक्ति की अनुभूति प्राप्त होती है। सन्तों, साधुओं और चिन्तकों के विचार और तदनुसार आचरण सिद्धि और सफलता का मार्ग है। मनुष्य जब तक स्वकृत कर्म पर अनुचिन्तन नहीं करता, सत्संगति के लिए प्रयास नहीं करता, तब तक आत्मा का द्वार उसके लिए बन्द ही रहता है। इस द्वार को खोलने में सत्संगति की ही परम महत्ता है। वही एक उत्कृष्ट साधन है, जहाँ से मनुष्य अपनी आत्मा को पा सकता है। सत्संगति संसार में अकेली अपार्थिव घटना है। यह अद्वितीय है। मनुष्य का सारा दर्शन, सारा काव्य, सारा कर्म उससे ही अनुप्रेरित है। मानवीय जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ और सुन्दर है वह सब सत्संगति से ही जन्म और जीवन पाता है। सत्संगति की आशा-किरण के सहारे ही प्रभु के आलोकित लोक तक पहुँचा जा सकता है। यह एक स्थिर सत्य है। आत्महीनता से पीड़ित व्यक्ति पद को खोजते हैं और आत्मदरिद्रता से ग्रसित व्यक्ति धन और सम्पदा को तथा अज्ञानी व्यक्ति भोग-विलास को। एकमात्र सत्संगति ही व्यक्तित्व के सही विकास का शुभ पथ है।

चतुर्थ अध्याय समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

एवं सत्सङ्गमाहात्म्यं श्रुत्वाऽत्रिसुतभाषितम् ।
प्रहृष्टमानसो भूयः प्रष्टुमेवोपचक्रमे ॥ १ ॥
सत्यं प्रोक्तमिदं नाथ भवता शुभकारणम् ।
सत्सङ्गरूपमेतच्च प्रत्यक्षेणैव भावितम् ॥ २ ॥
यो यथा सङ्गमाप्नोति फलं तस्य तथा भवेत् ।
स्त्रियोऽपि हेमलेखायाः सङ्गात् सर्वे महाफलाः ॥ ३ ॥
भूय इच्छाम्यहं श्रोतुं हेमचूडस्तया कथम् ।
बोधितस्तन्ममाचक्ष्व विस्तरेण दयानिधे ॥ ४ ॥
एवं रामेणानुयुक्तो दत्तात्रेय उवाच तम् ।
शृणु भार्गव वक्ष्यामि कथां परमपावनीम् ॥ ५ ॥
एवं तस्या वचः श्रुत्वा विषयान् विरसान् विदन् ।
तेषु सञ्जातनिर्वेदो विमना इव सम्बभौ ॥ ६ ॥
चिरस्थितविषयजवासनानां वशं गतः ।
त्यक्तुं वा सङ्ग्रहीतुं वा नाशकत् सहसा हि सः ॥ ७ ॥

(हेमचूड़ की विवशता एवं हेममाला का उपाख्यान वर्णन)

इस तरह महामुनि अत्रि के सपूत दत्तात्रेयजी से सत्संग की महिमा सुनकर अत्यन्त प्रसन्नचित्त परशुराम ने उनसे पुनः प्रश्न पूछने की तैयारी की ॥ १ ॥

हे प्रभो ! आपने सत्संग को हर कल्याण का प्रधान कारण बतलाया है, यह तो अक्षरशः सत्यः है । इसका तो मैंने प्रत्यक्ष अनुभव भी कर लिया है ॥ २ ॥

जो जैसी संगत करता है उसी तरह के परिणाम भी मिलते हैं । हेमलेखा तो एक औरत ही थी, परन्तु उसकी संगत से सबको जीवन का महान् फल मिला ॥ ३ ॥

हे दयासागर ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि हेममाला ने हेमचूड़ को किस तरह तत्त्वज्ञान का बोध कराया । इस प्रसंग को कृपया सविस्तार समझा दीजिए ॥ ४ ॥

परशुराम की ऐसी विनत प्रार्थना सुनकर दत्तात्रेयजी ने कहा—हे भृगुनन्दन ! सुनो, मैं तुम्हें वह परमपावनी कथा सुनाता हूँ ॥ ५ ॥

हेममाला की वैसी बातें सुनकर हेमचूड़ को भोगविलास बिलकुल रस-हीन प्रतीत होने लगे । उनमें अरुचि होने के कारण वह उदास-सा रहने लगा ॥ ६ ॥

विषयवासना तो बहुत दिनों से उसमें थी ही, उसके मन पर उनका अधिकार भी था । अतः अब उसे सहसा इसे न तो छोड़ते बनता था और न रखते ही ॥ ७ ॥

प्रियां न किञ्चित् प्रोवाच राजपुत्रोऽतिलज्जितः ।
कांश्चिच्च दिवसानेवमनयच्चिन्तयाकुलः ॥ ८ ॥
विषयेषु प्रसक्तेषु स्मृत्वा तत् प्रिययोदितम् ।
विगर्हन्नेव स्वात्मानं बुभुजे वासनावशः ॥ ९ ॥
वासनावेगवशतो विषयाननुगच्छति ।
दृष्ट्वैव विषयान् दोषान् प्रियाप्रोक्तान् विचिन्तयन् ॥ १० ॥
शोकसंविग्नहृदयो विषीदति मुहुर्मुहुः ।
एवं तस्याभवच्चित्तं चलद्दोलास्थितं यथा ॥ ११ ॥
भोज्यं वस्त्रं भूषणं वा योषिद्वाहनमेव वा ।
मित्राणि वापि सुहृदो नैतत्तं सुखयन्ति वै ॥ १२ ॥
नष्टाखिलार्थ इव स शोचत्येव निरन्तरम् ।
वासनाविवशः सर्वं त्यक्तुं नाशकदञ्जसा ॥ १३ ॥
नोपभोक्तुं तथा शक्तो दोषदृष्टियुतस्ततः ।
एवं तं शोकवशतो विवर्णवदनेक्षणम् ॥ १४ ॥
हेमलेखा समालक्ष्य कदाचित् सङ्गता रहः ।
किं नाथ पूर्ववत्त्वं नो लक्ष्यसेऽत्यन्तहर्षितः ॥ १५ ॥

बहुत अधिक शर्मिन्दा होने के कारण राजकुमार अपनी पत्नी से कुछ कह नहीं पाता । सोच में डूबे इसी तरह उसने कुछ दिन काट लिये ॥ ८ ॥

जब कभी उसे भोग-विलास का मौका मिलता, अपनी पत्नी की बातें याद कर अपने आपको फटकारते हुए भी वासना के वशवर्ती होने के कारण उसे भोग ही लेता ॥ ९ ॥

मन में वासना का बहाव रहने के कारण भोग-विलास की ओर खिच तो जाता, पर फिर अपनी पत्नी के कहे हुए इनके दोषों का खयाल कर उसका मन गम खाकर बेचैन हो जाता और वह बार-बार इस पर सोचने को विवश हो जाता । इस तरह उसका मन झोंका लेते हुए झूले की तरह कभी इधर तो कभी उधर झूलता रहता ॥ १०-११ ॥

अब उसे खाने की चीजें, पहनने की पोशाक, जेवर-गहने, औरत, सवारी अथवा दोस्त-मित्रों की सोहबत — कुछ भी सुखी नहीं कर पाते थे ॥ १२ ॥

वह हमेशा गमगीन बना रहता था । लगता था जैसे उसकी सारी दौलत खत्म हो गयी हो । भावना के अधीन होने के कारण वह अचानक सब-कुछ छोड़ भी तो नहीं सकता था ।। १३ ॥

भोग-विलास के अवगुणों को जान लेने के कारण वह उन्हें भोगने का साहस भी जुटा नहीं पाता था । हेमभाला ने जब देखा कि राजकुमार हमेशा बेचैन बना रहता है और उसका मुँह और उसकी आँखें मलिन हैं । फिर एक दिन एकान्त में उससे

शोचन्तमिव पश्यामि कुत एवं तव स्थितिः।
कच्चिच्छरीरमात्मा ते नामयैर्बाध्यते सदा ॥ १६ ॥
भोगेषु रोगभीतिं वै प्रवदन्ति मनीषिणः।
त्रिदोषसम्भवे देहे दोषवैषम्यसम्भवाः ॥ १७ ॥
आमयाः प्रायशः सर्वदेहान् व्याप्यैव संस्थिताः।
सर्वथा ह्यप्रतीकार्यं वैषम्यं दोषजं ननु ॥ १८ ॥
अशनाद्वसनाद्वाचो दर्शनात् स्पर्शनादपि।
कालाद्देशात् कर्मतश्च दोषा वैषम्यमाप्नुयुः ॥ १९ ॥
अतस्तस्योद्भवो लोके सर्वथाऽलक्ष्यतां गतः।
इत्यतः सति वैषम्ये चिकित्सा सम्प्रकीर्त्तिता ॥ २० ॥
नोक्ता चिकित्सानुत्पत्तौ वैषम्ये केनचित् क्वचित्।
तद्वद प्रिय कस्माद्धि शोकस्य तव सम्भवः ॥ २१ ॥
इति श्रुत्वा हेमलेखां प्राह राजसुतस्ततः।
प्रिये शृणु प्रवक्ष्यामि यन्मे शोकस्य कारणम् ॥ २२ ॥
त्वदुक्त्या यत् पुरा मेऽभूत् सुखदन्तद्धतं ननु।
न पश्याम्यधुना किञ्चिदपि मे सुखवर्द्धनम् ॥ २३ ॥

मिलकर उसने पूछा—स्वामी, आप पहले की तरह खुशमिजाज नजर क्यों नहीं आते। आखिर इसकी वजह क्या है? ॥ १४-१५ ॥

मैं आपको हमेशा सोच में डूबा देखती हूँ। आपका हाल ऐसा क्यों है? क्या आपकी देह में कोई रोग है जिससे आपकी आत्मा सदा दुःखी रहती है? ॥ १६ ॥

अक्लमंद लोग भोग में रोग बतलाते है। कफ, पित्त एवं वात निर्मित इस देह में तीनों दोषों के बीच विषमता की सम्भावना भी तो है ही ॥ १७ ॥

यही कारण है कि हर देह में कुछ-न-कुछ रोग तो मौजूद रहता ही है। अतः दोषजन्य इस विषमता को दूर हटाना निश्चय ही कठिन है ॥ १८ ॥

इस त्रिदोष की विषमता खान-पान से, कपड़े से, बोलने से, किसी चीज को देखने या छूने से, स्थान या समय से या किसी काम से हो जाते हैं ॥ १९ ॥

अतः इस विषमताजन्य रोग की उत्पत्ति के कारण क्या हैं? यह बात जन-सामान्य की समझ से परे की है। ऐसी स्थिति में चिकित्साशास्त्र की शरण ली जाती है ॥ २० ॥

अगर यह विषमता न होती तो चिकित्सा का कोई नाम भी नहीं जानता। अतः हे प्रिय! बतलाइये, आपके इस दुःख का कारण क्या है? ॥ २१ ॥

यह सुनकर राजकुमार ने हेमलेखा से कहा—प्रिये! सुनो, मेरी इस चिन्ता की वजह क्या है? ॥ २२ ॥

तुम्हारी बातें सुनने के पहले मेरे लिए जो वस्तुएँ सुखदायक थीं, वही अब

राज्ञा वितीर्णो विषयः सुखदोऽपि समन्ततः ।
वध्यं न सुखयेद् यद्वत्तथा तस्मान्न मे सुखम् ॥ २४ ॥
विषयान् सेवमानोऽहं सदा विष्टिगृहीतवत् ।
तत् पृच्छामि प्रिये ब्रूहि किं कृत्वा सुखमेम्यहम् ॥ २५ ॥
एवं तेन समापृष्टा हेमलेखा तदाऽब्रवीत् ।
नूनमेष सुनिर्वेदमागतो मद्वचःश्रुतेः ॥ २६ ॥
अस्ति बीजं श्रेयसोऽस्मिन् यत एवंविधो ह्ययम् ।
येषु श्रेयो ह्यसम्भाव्यं त एवं वाक्यगुम्फनैः ॥ २७ ॥
न ह्यण्वपि विशेषेण विशिष्यन्ते कदाचन ।
चिरं संराधिता हृत्स्था प्रसन्ना स्वात्मदेवता ॥ २८ ॥
त्रिपुरा येन तेष्वेव भवेदेवंविधा स्थितिः ।
इत्यालोच्यातिविदुषी बुबोधयिषती प्रियम् ॥ २९ ॥
गोपयन्ती स्ववैदुष्यं प्राहान्यव्यपदेशतः ।
शृणु राजकुमारेदं यन्मे वृत्तं पुरातनम् ॥ ३० ॥
पुरा मे जननी काञ्चित् क्रीडनाय सखीं ददौ ।

दुःखदायक बन गयी हैं । अब मुझे ऐसी कोई चीज नजर नहीं आती जो मेरे सुख को बढ़ावा दे ॥ २३ ॥

महाराज ने मेरे लिए जो भोग-विलास की वस्तुएँ जुटा दी हैं, वे हर तरह से मेरे लिए व्यर्थ हैं । फिर भी सजा-ए-मौत पाये व्यक्ति को जैसे इन मौज-मस्ती की चीजों में मन नहीं लगता, उसी तरह मुझे ये भोग-विलास की वस्तुएँ सुखदायी प्रतीत नहीं होती हैं ॥ २४ ॥

मैं जो ऐयाशी करता हूँ, वह वासना के वशीभूत बेगार में पकड़े गये लोगों की तरह केवल बोझ ही ढोता हूँ । अब तुम्हीं बतलाओ कि सुख पाने के लिए मैं क्या करूँ ? ॥ २५ ॥

उसका ऐसा सवाल सुनकर हेममाला ने अपने-आप से कहा--निश्चय ही मेरी बातों का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा है । अब इनमें पूर्ण वैराग्य आ गया है ॥ २६ ॥

निश्चय ही इनके भीतर मुक्ति का बीज छिपा है । अन्यथा इनका ऐसा हाल नहीं होता । जिनमें मुक्ति की सम्भावना नहीं होती, उन पर इन बातों का अणु भर भी प्रभाव नहीं पड़ता ॥ २७½ ॥

बहुत दिनों तक आराधना-साधना के बाद अपने हृदय में मौजूद आत्मस्वरूपिणी भगवती त्रिपुरा जिस पर प्रसन्न होती है, उसी की यह दशा होती है ॥ २८½ ॥

ऐसा सोचकर उस परम विदुषी ने अपनी विद्वत्ता को छिपाते हुए, अपने पति को प्रबुद्ध करने की इच्छा से दूसरे की ओट लेकर कहना शुरू किया ॥ २९½ ॥

राजकुमार ! सुनें--मेरे साथ भी पहले यह घटना घट चुकी है । बहुत पहले एक

सा　स्वभावसती　काञ्चिदसतीमनुसङ्गता ॥ ३१ ॥
सा　विचित्रविधाश्चर्यसृष्टिसामर्थ्यसंयुता ।
अलक्षिता मे जनन्या सख्या मे सङ्गताभवत् ॥ ३२ ॥
असच्चरित्रयात्यन्तं सङ्गता मम सा सखी ।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा सदा तद्वशगा ह्यहम् ॥ ३३ ॥
न तां विहाय मे संस्था क्षणार्द्धं वा क्वचिद्भवेत् ।
सा निर्मलस्वभावेन मां वशीकृत्य संस्थिता ॥ ३४ ॥

बार मेरी माँ ने खेलने के लिए मुझे एक सहेली दी । वह स्वयं तो स्वभाव से ही बड़ी साध्वी थी । किन्तु किसी कुलटा की कुसङ्गति में पड़ गयी थी ॥ ३०-३१ ॥

उस कुलटा में अनेक तरह की विस्मयकारिणी सृष्टि रचने की सामर्थ्य थी । मेरी माता को किसी तरह की सूचना दिये बिना ही वह मेरी सहेली से जा मिली ॥ ३२ ॥

मेरी सहेली का सम्पर्क उस कुलटा के साथ बहुत अधिक बढ़ गया । और मेरी सहेली मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय थी । मैं हमेशा उसके इशारे पर नाचती थी ॥३३॥

उसे छोड़कर एक पल भी मैं कहीं टिक नहीं सकती थी । अपने सतोगुण-प्रधान प्रकृति के कारण उसने मुझे अपने अधीन कर लिया था । दिन-रात उसी में मन लगे रहने के कारण मेरा स्वभाव भी उसी की तरह का हो गया था ॥ ३४½ ॥

विशेष—यहाँ से कथा ने दूसरा मोड़ लिया है । सारे के सारे शब्द प्रतीकात्मक हैं । दार्शनिक पृष्ठभूमि में सभी शब्द प्रतीक के संवाहक हैं । जैसे 'वृत्त' शुद्धचिति, माता जीवात्मा, हेममाला बुद्धि तथा सखी अविद्या के प्रतीक हैं । यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि अविद्या का कुप्रभाव कब और कैसे बुद्धि को अधिकृत करती है; इसका पता शुद्धचिति को नहीं होता । अथवा इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि शुद्धचिति वास्तव में अविद्या या बुद्धि को अपना विषय ही नहीं मानती है । क्योंकि उसकी दृष्टि में तो बुद्धि आदि प्रपंच की सत्ता ही नहीं है । वह तो केवल आभास मात्र है । कहने का तात्पर्य यह सब करामात 'हान' की है । हान के सम्बन्ध में कहा गया है—

'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्' ।
(पातञ्जलयोगदर्शन, पृ० २३४)

अविद्या के प्रभाव में जो संयोगाभाव है, वही 'हान' कहलाता है और यही द्रष्टा का कैवल्य है । अदर्शन का अभाव होने पर बुद्धि-पुरुष का जो संयोगाभाव अर्थात् बंधन की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, यही हान है । यही साधक का कैवल्य है । पुरुष का अमिश्रीभाव है । दूसरे शब्दों में गुणों के साथ असंयोग है । दुःखकारण की निवृत्ति होने पर जो दुःख की निवृत्ति होती है, वही हान है । इसी अवस्था में पुरुष स्व-प्रतिष्ठित होता है ।

कुल मिलाकर कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य का चित्त सदैव ऐन्द्रिक अनुभवों को संग्रहीत करता रहता है । ये सभी अनुभव बाह्य जगत् के होते हैं । चिति का

निरन्तरं तद्गतात्मस्वभावाऽभवमञ्जसा ।
सा तया दुष्टया युक्ता नट्या चित्रस्वभावया ॥ ३५ ॥
परोक्षवृत्तिमानीता स्वपुत्रेणाभियोजिता ।
तस्याः पुत्रोऽतिमूढात्मा मदिराघूर्णितेक्षणः ॥ ३६ ॥
बुभुजे तां समाक्रम्य सर्वदा मत्समक्षतः ।
सा तेनाक्रान्तसर्वाङ्गी भुज्यमानानुवासरम् ॥ ३७ ॥
न मां जहौ कदाचिच्च तत्स्पृष्टा तेन चाप्यहम् ।
ततः पुत्रः समुत्पन्नो मूढस्य सदृशाकृतिः ॥ ३८ ॥
तरुणः सोऽभवत् तूर्णमतिचञ्चलसंस्थितिः ।
पितुर्मौढ्येन संयुक्तः पितामह्या गुणेन च ॥ ३९ ॥
अनेकचित्रनिर्माणसामर्थ्येन समावृतः ।
पितामह्या शून्यनाम्न्या पित्रा मूढाभिधेन च ॥ ४० ॥

इससे कोई सम्पर्क नहीं होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ केवल उसे ही जानने में समर्थ हैं जो बाहर हैं। जो स्वयं के भीतर हैं, वहाँ तक इन्द्रियों की पहुँच नहीं है। इन अनुभवों की सूक्ष्म तरंगें ही विचार की जननी हैं। अतः कोई विचार भौतिक पदार्थ को खोजने में सहयोगी हो सकता है, किन्तु परम सत्य के अनुसन्धान में नहीं। स्वयं के आन्तरिक केन्द्र पर जो चेतना है, विचार के द्वारा उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह तो इन्द्रियों के सदा पार्श्व में ही है।

इस अवान्तर कथा के माध्यम से हेममाला ने जिस कथान्तर की सृष्टि की है वह निश्चय ही अद्वितीय एवं सारगर्भित है। स्थूल कथा पञ्चम अध्याय के अन्त तक चलती है। रूपान्तरित अन्तःकथा भी सर्वत्र समभाव से चलती रहती है, जिसके माध्यम से हेममाला अपने पति को स्वरूपस्थ कराना चाहती है।

विचित्र मिजाजवाली उस नटी ने अपने साथ मिली हुई मेरी सहेली को परोक्ष के अनेक प्रलोभन देकर अपने पुत्र के अधीन कर दिया॥ ३५½ ॥

उसका बेटा बड़ा ही बेवकूफ और शराबी था। शराब के नशे में उसकी आँखें हमेशा चढ़ी रहती थीं। वह मेरी आँखों के सामने ही मेरी सहेली के साथ बलात्कार करता था॥ ३६½ ॥

हर रोज जबरदस्ती भोगे जाने के कारण उसके अंग-अंग टूटते रहते। फिर भी वह मेरा साथ कभी नहीं छोड़ती। एक दिन तो गजब ही हो गया। मेरी देह भी उससे छू गई। कुछ दिनों के बाद उन्होंने एक बेटा जन्म लिया। वह अपने बेवकूफ बाप की तरह बेडौल रूपवाला हुआ॥ ३७–३८॥

वह बहुत जल्द जवान हो गया। वह भी अपने बेवकूफ बाप की तरह बड़ा ही चुलबुला और ऐयाश था। दादी के गुण भी उसमें मौजूद थे॥ ३९॥

'अस्थिर' नाम के उस लड़के में बहुत तरह की तस्वीर बनाने की ताकत थी।

अस्थिराह्वः शिक्षितोऽभूत् स्वयं चातिविशारदः ।
गतिमप्रतिबद्धां वै शीघ्राच्छीघ्रां समागदत् ॥ ४१ ॥
एवं मम सखी स्वच्छस्वभावा जन्मतः सती ।
असतीसङ्गतोऽत्यन्तं मालिन्यं समुपागता ॥ ४२ ॥
सख्या प्रियेण पुत्रेणासत्स्वभावयुतेन सा ।
चिरसङ्गात्तेषु दृढानुरागेण समायुता ॥ ४३ ॥
जहौ मय्यनुरागन्तु सर्वथा क्रमतः सखी ।
अहं स्वभावसरला हातुं तत्सङ्गमक्षमा ॥ ४४ ॥
अनीशा तत्परैवासं सर्वथा तामनुव्रता ।
अथ तस्याः प्रियो मूढो भुञ्जानस्तां तु सर्वदा ॥ ४५ ॥
प्रसह्य मां समाक्रान्तुमुद्युक्तः सर्वथाऽभवत् ।
नाहं स्वभावसंशुद्धा वस्तुतस्तद्वशं गता ॥ ४६ ॥
तथापि लोके मेऽत्यन्तं परीवादो महानभूत् ।
मूढेन सर्वथेयं च भुज्यते इति सर्वतः ॥ ४७ ॥
अस्थिराख्यं स्वपुत्रं सा मयि न्यस्य सखी मम ।
प्रियेण सम्परिष्वक्ता सर्वथा तत्पराऽभवत् ॥ ४८ ॥

वह खुद तो होशियार था ही, फिर भी 'शून्य' नाम वाली उसकी दादी और 'मूढ़' नाम वाले पिता ने उसे गहरी तालिम देकर पक्का बना दिया। जल्द से जल्द अब वह इतना अधिक ताकतवर हो गया कि उसकी गति को कोई भी रोक नहीं पाता था ॥ ४०–४१ ॥

इस तरह मेरी सहेली जो बड़ी पाक दामन औरत थी, जो पैदाइशी पाक थी, उस नापाक औरत की सोहवत में रहकर और ज्यादे गन्दी हो गई ॥ ४२ ॥

अपने बदमिजाज आशिक और बेटे की सोहबत में बहुत दिनों तक रहते-रहते उसका भी उन्हीं में पुख्ता लगाव हो गया ॥ ४३ ॥

धीरे-धीरे उसने मुझसे मुँह मोड़ लिया। पर मैं तो ठहरी सीधी-साधी, सो मुझ से एकाएक उसका साथ छोड़ते न बना। मैं हर हमेशा उसी के साथ लगी रहती और उसके पीछे चलती ॥ ४४ ॥

उसका आशिक 'मूढ' जब जी में आता उसके साथ बलात्कार तो करता ही था, अब हर हमेशा जबरन मेरे साथ भी मुँह काला करने की ताक में लगा रहता। पर पाक दामन होने के कारण मैं कभी उसको हाथ न लगी ॥ ४५–४६ ॥

फिर भी समाज में मेरी काफी बदनामी फैल गई। मूढ को लेकर लोग नुकता-चीनी करते और कहते कि मूढ इसका यथेच्छ उपभोग करता है ॥ ४७ ॥

मेरी सहेली ने अपने बेटे 'अस्थिर' को मेरे हवाले कर खुद अपने आशिक के गले लगकर हमेशा-हमेशा के लिए उसकी हो गई ॥ ४८ ॥

अथास्थिरो मया सम्यग् लालितः पोषितस्ततः ।
प्रौढस्त्रियं पितामह्या अनुमत्योपसङ्गतः ॥ ४९ ॥
सा प्रिया तस्य चपलाभिधाना हि प्रतिक्षणम् ।
प्रियस्य सम्मतं रूपं भिन्नं भिन्नं मनोहरम् ॥ ५० ॥
गृह्णात्याश्चर्यजननं प्रियमेवं स्वके वशे ।
चक्रे सात्यन्तनिपुणा स्वनैपुण्यवशात् खलु ॥ ५१ ॥
अस्थिरोऽपि क्षणेनैव त्वसङ्ख्यशतयोजनम् ।
प्रयात्यायाति च सदा न श्रान्तिमुपगच्छति ॥ ५२ ॥
समीहते यत्र गन्तुमस्थिरश्च यदा यदा ।
तस्येष्टं स्वस्वरूपन्तु कृत्वा सा चपलापि हि ॥ ५३ ॥
तत्र तत्र स्थिता भूत्वा रमयत्येव स्वं प्रियम् ।
एवं सा चपला सम्यगस्थिरेण युता सती ॥ ५४ ॥
सुषुवे पञ्चतनयान् मातापितृपरायणान् ।
ते समर्थाः पञ्चविधा मयि सख्या निवेशिताः ॥ ५५ ॥
अहं सख्यनुरक्ता तानकुर्वं बलवत्तरान् ।
अथ ते पञ्चतनयाश्चपलायाः पृथक् पृथक् ॥ ५६ ॥
चक्रुरायतनं श्रेष्ठं विचित्रमतिविस्तृतम् ।
पितरं स्ववशे चक्रुर्मात्रा सम्यग् विभाविताः ॥ ५७ ॥

अब उसके बेटे का लालन-पालन मैं करने लगी। वह लड़का अपनी दादी के [illegible]मर्जी से एक ढलती उमर की औरत के साथ अवैध यौन सम्बन्ध स्थापित कर लिया ॥ ४९ ॥

उसकी उस चहेती का नाम चपला था। उसकी एक खूबी थी। वह अपने आशिक के मन-मुताबिक हर पल अनेक तरह के मनभावन और ताज्जुब में डालनेवाला रूप धारण कर लेती थी। वह काफी चालाक औरत थी। बड़ी होशियारी से उसने अपने प्रेमी को रूपजाल में फाँस लिया ॥ ५०–५१ ॥

अस्थिर भी पलक झपकते करोड़ों कोस आ-जा सकता था। उसे थकान कभी मालूम होती ही नहीं थी ॥ ५२ ॥

'अस्थिर' जब कभी जहाँ कहीं जाने की सोचता, उसके मन-मुताबिक बाना [illegible]कर चपला भी वहाँ पहुँचकर अपने आशिक का जी बहलाती ॥ ५३½ ॥

इस तरह अस्थिर के साथ रहकर चपला ने पाँच बेटे पैदा किये। वे सभी अपने माँ-बाप के अनुगत थे। वे सब-के-सब बड़े ताकतवर थे और पाँचों पाँच तरह के थे। [illegible] भी मेरी सहेली ने मुझे ही सौंप दिया ॥ ५४–५५ ॥

सहेली की प्रीति के कारण मैंने उन्हें पाल-पोसकर काफी ताकतवर बना दिया।

आनयन्ति स्वायतनं पितरं तं क्षणे क्षणे।
तत्रास्थिरो ज्येष्ठसुतायतनं विनिविश्य तु ॥ ५८ ॥
अशृणोद्विविधान् शब्दान् सुस्वरानितरानपि।
क्वचिन्मधुरसङ्गीतं क्वचिद् वाद्यं सुमङ्गलम् ॥ ५९ ॥
ऋचो यजूंषि सामानि मन्त्रानाथर्वणानपि।
शास्त्रागमेतिहासांश्च भूषणानाञ्च सिञ्जितम् ॥ ६० ॥
भृङ्गसङ्घस्य गीतञ्च पिकपञ्चमसुस्वरम्।
एवं मनोहराञ्शब्दाञ्शृण्वन् पुत्रनिदेशतः ॥ ६१ ॥
प्रीतः पुत्रवशं प्रागादथ पुत्रोऽन्यथादिशत्।
विरुद्धान् कर्णकटुकानशृणोद्भैरवान् रवान् ॥ ६२ ॥
सिंहादिगर्जितं मेघनिर्घोषमशनेस्तथा।
ब्रह्माण्डभेदनं गर्भस्रावणं सुभयङ्करम् ॥ ६३ ॥
रुदितं विप्रलपितं शोचितादिविचित्रितम्।
एवं श्रुत्वा सुचकितश्चान्यत्राप्यशृणोत्तथा ॥ ६४ ॥
द्वितीयसुतनीतोऽथास्थिरस्तद्भुवनं ययौ।
तत्रापश्यन् मृदुस्पर्शान्यासनानि शुभानि च ॥ ६५ ॥

उन पाँचों ने अपने लिए अलग-अलग विलक्षण, मशहूर तथा खूबसूरत रहने के लिए घर बनवा लिए। फिर वे माँ की शह पाकर पिता पर हावी हो गये ॥ ५६–५७ ॥

वे बाप को हर पल अपने-अपने घर बुलाते रहते थे। एक दिन 'अस्थिर' अपने बड़े बेटे के घर गया। वहाँ उन्होंने अनेक तरह की सुरीली आवाज सुनी तथा अनेक अन्य शब्द भी सुने ॥ ५८½ ॥

यहाँ उसने कभी गीत की मीठी तान सुनी तो कभी मांगलिक धुन। कभी ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद की ऋचायें सुनी तो कभी शास्त्र, आगम और इतिहास की गाथायें सुनी। कभी पायलों की झंकार तो कभी भौरों की गुन्जार और कभी कोयलों की पंचम तान॥ ५९–६०½ ॥

इस तरह बेटे के इशारे पर मीठी तान सुनकर वह बड़ा खुश हुआ। जब उसकी अधीनता उसने कबूल कर ली तब उसने अपना दूसरा रंग दिखलाया। उसने अपने मन के खिलाफ सख्त और डरावनी आवाज भी सुनी ॥ ६१–६२ ॥

सिंह-बाघ जैसे खतरनाक जानवरों की गुर्राहट, बादल और बिजली की गड़-गड़ाहट, संसार की ऊपरी सतह चीरकर बाहर निकलनेवाली डरावनी आवाज, गर्भपात का करुण क्रन्दन, गमगीनों की कराहती आवाज; ऐसी ही अनेक चौंकाने वाली आवाज सुनकर वह चौंक उठा। ऐसी ही अनेक डरावनी और आवाजें उसने सुनी ॥ ६३–६४ ॥

एक बार दूसरे बेटे के बुलाने पर वह उसके घर भी गया। वहाँ उसने मुलायम

शयनानि च वासांसि कठिनस्पर्शकान्यपि ।
शीतस्पर्शानि वस्तूनि तथोष्णस्पर्शकानि च ॥ ६६ ॥
अनुष्णाशीतस्पर्शानि विचित्राण्यभिवीक्ष्य तु ।
हितान् दृष्ट्वा प्रमुदितो विषण्णस्त्वहितानपि ॥ ६७ ॥
अथ तृतीयतनयभवनं प्राप्य सोऽस्थिरः ।
अपश्यद् रुचिराकारान् भावान् विविधवर्णकान् ॥ ६८ ॥
रक्तान् श्वेतान् पीतनीलान् हरितान् पाटलानपि ।
धूम्रान् कडारान् कपिशान्मेचकान् कर्बुरांस्तथा ॥ ६९ ॥
स्थूलान् कृशानणून् दीर्घानायतान् वर्त्तुलांस्तथा ।
अर्द्धवृत्तान् दीर्घवृत्तान् सुन्दरांश्च विभीषणान् ॥ ७० ॥
बीभत्सान् भास्वरान् रौद्राननालोकांश्च दृङ्मुषः ।
क्वचिद्धितं ततोऽन्यश्च पश्यन्तं पितरं पुनः ॥ ७१ ॥
अनयत्तुर्यतनयो भवनं स्वं विचित्रितम् ।
तत्राससाद पुष्पाणि फलान्यन्यानि च क्रमात् ॥ ७२ ॥
पेयानि लेह्यचोष्याणि भक्ष्याणि रसवन्ति वै ।
सुधास्वादूनि मधुराण्यन्यान्यम्लरसानि च ॥ ७३ ॥

[illegible], गुलगुले गद्दे, कोमल कपड़े देखे । इसी तरह कड़ी ठंडी और गर्म तासीर वाली [illegible] भी उन्होंने देखी । उनमें कई ऐसी चीजें भी थीं जो छूने पर न तो ज्यादे गर्म [illegible] और न ज्यादे ठंड ही । इस तरह की अनेक वस्तुओं को देखकर मन-मुताबिक [illegible] से खुशी हुई और प्रतिकूल वस्तुओं को देखकर तकलीफ भी हुई ॥ ६५–६७ ॥

फिर अस्थिर ने तीसरे बेटे के घर जाकर अनेक रंगों और आकारवाली बहुत [illegible] चीजें देखी ॥ ६८ ॥

वे चीजें लाल, पीले, काले, हरे, भूरे, धूसरे, मटमैले, सुनहरे, सफेद, चितकबरे [illegible] अनेक रंगों की और मोटे, पतले, छोटे, लम्बे, चौड़े, गोल आदि अनेक आकृतियों [illegible] थीं । कोई गोलार्ध और कोई लम्बगोलाकार थे । कई चीजें खूबसूरत तो कई [illegible]ावनी लगती थीं ॥ ६९–७० ॥

इसी प्रकार कोई घिनौना तो कोई चमाचम, कहीं उजाला तो कहीं अँधेरा जहाँ [illegible] नहीं काम करतीं । उनमें कुछ तो फायदेमन्द और कुछ नुकसानदेह लगते थे । [illegible] तरह जब अस्थिर रंग-बिरंगी चीजें देख रहा था, उसका चौथा बेटा वहाँ आकर [illegible] अपने विचित्र भवन में ले गया ॥ ७१ ॥

वहाँ उसने सिलसिलेवार ढंग से कई तरह के फूल और फल देखें । कई तरह के [illegible] रसीले शरबत, चटनी, चुसकी और कई तरह की खाने योग्य चीजों का भक्षण [illegible]या । उनमें से कुछ तो अमृत की तरह मीठे थे और कुछ खट्टे तो कुछ कड़वे, कुछ

कटुकानि च तिक्तानि कषायाण्यपि कानिचित् ।
क्षाराणि मधुराम्लानि कट्वम्ललवणानि च ॥ ७४ ॥
कटुतिक्तानि चित्रात्मरसानि विविधान्यपि ।
आस्वादयन्नात्मजेन समेतोऽथान्तिमः सुतः ॥ ७५ ॥
निनाय पितरं स्थाने स्वीयेऽत्यन्तविचित्रिते ।
तत्रोपालभतानेकपुष्पाणि च फलानि च ॥ ७६ ॥
तृणान्यन्यान्योषधीश्च भावानन्यांश्च सर्वतः ।
सुगन्धान् पूतिगन्धांश्च मृदुगन्धोग्रगन्धकान् ॥ ७७ ॥
मोहगन्धान् ज्ञानगन्धान् मूर्च्छागन्धान्विचित्रितान् ।
पुत्राणां भवने चैवं प्रविशन् निविशन्नपि ॥ ७८ ॥
हितेषु रमते क्वापि विषीदत्यहिते क्वचित् ।
सदा गमागमपरः पुत्राणां भवने बभौ ॥ ७९ ॥
ते पुत्राः पितृवात्सल्यात् पितृहीना न च क्वचित् ।
स्पृशन्ति विषयांश्चित्रान् स्वल्पं वापि कदाचन ॥ ८० ॥
अस्थिरस्तु पुत्रगृहे भुक्त्वा तान् विषयान् बहून् ।
मुषित्वान्यांश्च विषयान् गुप्त्या नयति स्वं पदम् ॥ ८१ ॥

चरपरे तो कुछ कसैले थे । कुछ नमकीन तो कुछ खटमिट्ठे, कुछ कड़वाहट लिए खट्टे, कुछ नमकीन तो कुछ में तीन-तीन रस एक साथ मिले, कुछ कड़ुए तो कुछ तीते थे । इस तरह अनेक रसीली चीजें वह अपने बेटे के साथ खा रहा था उसी समय उसका पाँचवाँ बेटा उसे अपने विचित्र महल में ले गया । वहाँ भी उसे अनेकों फूल और फल मिले ॥ ७२–७६ ॥

वहाँ उन्होंने हर ओर पेड़-पौधे, जड़ी-बूटी तथा अन्य वस्तुओं का भी अनुभव किया । उनमें किसी से खुशबू निकल रही थी तो किसी से बदबू । किसी से मीठी-मीठी महक निकल रही थी तो किसी से तीखी गन्ध । किसी की गन्ध मन को मोह लेती थी तो किसी की गन्ध चौंका देती थी । किसी की गन्ध से मदहोशी आती तो किसी से बदहोशी । इस तरह वहाँ उन्होंने अनेक तरह की विलक्षण वस्तुओं को महसूस किया ॥ ७७ ॥

बेटे के घरों में आते-जाते उसे जहाँ मनमाफिक चीजें मिलतीं वहाँ वह रम जाता और जहाँ अनचाही चीजों से पल्ला पड़ता वहाँ से जल्द ही ऊब भी जाता । इस तरह अब वह अपने बेटों के घर का ही चक्कर लगाता रहता ॥ ७८–७९ ॥

इनके सभी बेटे बाप के बड़े अनुगामी थे । वालिदपरस्त होने के नाते बाप को साथ लिये बिना उन विलक्षण वस्तुओं में से कभी किसी को हाथ नहीं लगाते ॥८०॥

किन्तु 'अस्थिर' उन विलक्षण वस्तुओं का उपभोग बेटे के घरों में छक कर करता था, फिर भी उनमें से कुछ को चुपके से चुराकर अपने साथ घर ले आता था ॥८१॥

पत्न्या चपलया साकं रहः पुत्रैर्विना स्वयम् ।
भुनक्त्यतितरां नित्यमथान्या चपला स्वसा ॥ ८२ ॥
महाशना पतिं वव्रे मनःकान्तं तमस्थिरम् ।
तस्यामतितरां सक्तो यदाभूदस्थिरोऽपि वै ॥ ८३ ॥
तदा तस्याः प्रीतये स भोगाहरणतत्परः ।
तेनानीतं बह्वपि च भक्षित्वा क्षणमात्रतः ॥ ८४ ॥
पुनर्बुभुक्षयाक्रान्ता भोगाहरणहेतवे ।
सदा प्रियं सन्दिशति सोऽप्याहर्तुं सदेक्षते ॥ ८५ ॥
पुत्रैः पञ्चभिरानीतं प्रियेणापि सुसम्भृतम् ।
भुक्त्वा क्षणेन भूयोऽपि सा बुभुक्षाप्रपीडिता ॥ ८६ ॥
भोगाहृतौ सन्दिशति प्रियं पुत्रांश्च सर्वदा ।
ततः सा स्वल्पकालेन सुषुवे पुत्रयोर्युगम् ॥ ८७ ॥
ज्वालामुखस्तयोर्ज्येष्ठो निन्द्यवृत्तस्तथापरः ।
सदा मातुः प्रियतमौ तौ पुत्रौ सम्बभूवतुः ॥ ८८ ॥
महाशनायामासक्तः संश्लिष्यति यदा स्थिरः ।
तदा ज्वालामुखज्वालालीढसर्वकलेवरः ॥ ८९ ॥

जब बेटे घर में नहीं होते तो तनहाई पाकर 'अस्थिर' वहाँ हररोज अपनी पत्नी चपला के साथ मनमाने सम्भोग करता। चपला की एक बहन थी। उसका नाम महाशना था। कुछ दिन के बाद महाशना ने 'अस्थिर' को अपनी ओर खिंचते महसूस किया। उसे हर तरह माकूल पाकर उससे शादी कर ली ॥ ८२ ॥

जब 'अस्थिर' को भी उससे काफी लगाव हो गया। वह उसकी हर खुशी के लिए हमेशा भोग-सामग्री जुटाने में मुस्तैद रहने लगा ॥ ८३ ॥

उसके खाने-पीने के लिए वह बहुत सारी चीजें जुटा लेता, पर महाशना उसे पलक झपकते चट कर जाती। फिर वह भोगलिप्सा से बड़ी बेचैन हो जाती और अपने महबूब को भोग के लिए नई-नई चीजें जुटाने को बढ़ावा देती रहती थी ॥ ८४–८५ ॥

पति का तो पूछना ही क्या? पाँचों बेटे भी उसके लिए खाने-पीने की बहुत सारी चीजें जुटा लाते, पर क्षण-पल में वह उसे साफ कर देती और फिर कुछ और पाने की वही बेचैनी बनी रहती ॥ ८६ ॥

भोजन और विलास की सामग्री जुटाने में वह हर हमेशा अपने प्रेमी और पाँचों बेटों को जोतती रहती। फिर कुछ ही दिनों में उसने दो बेटे को जन्म दिया ॥ ८७ ॥

उनमें बड़े का नाम 'ज्वालामुख' तथा छोटे का नाम 'निन्द्यवृत्त' था। वे दोनों ही अपनी माँ के बड़े लाडले थे ॥ ८८ ॥

महाशना की मुहब्बत में मदहोश होकर जब अस्थिर उसे गले लगाता तो कभी

अस्थिरः पीडितोऽत्यन्तं गाढमूर्च्छामुपैति हि।
कदाचिन्निन्द्यवृत्तेन सङ्गतः प्रियसूनुना ॥ ९० ॥
सर्वैर्विनिन्द्यतामेति मृततुल्यो हि जायते।
एवं यदास्थिरो जातो दुःखभोगैकतत्परः ॥ ९१ ॥
तदा सखी मे स्वभावसती पुत्रेऽस्थिराह्वये।
अतिवात्सल्यतस्तेन सङ्गता तस्य दुःखतः ॥ ९२ ॥
दुःखभारसमाक्रान्ता निन्द्यवृत्तेन सङ्गता।
ज्वालामुखेन च तथा पौत्रेणाश्लेषिता सती ॥ ९३ ॥
सुदग्धा निन्दिता लोकैर्मृतप्राया बभूव ह।
तां सदानुगता चाहं लुप्तप्रायाभवं प्रिय ॥ ९४ ॥
एवं बहूनि वर्षाणि सख्या दुःखेन दुःखिता।
अस्थिरोऽभूदस्वतन्त्रो महाशनापरिग्रहात् ॥ ९५ ॥
पुरं प्राप दशद्वारं केनचित् कर्मणा क्वचित्।
तस्मिन् महाशनायुक्तो पुत्रैर्मात्रादिभिर्युतः ॥ ९६ ॥
न्यवसत् स सुखप्रेप्सुर्दुःखं भुञ्जन् दिवानिशम्।
पुत्राभ्यां दग्धसर्वाङ्गो निन्दितश्चानुवासरम् ॥ ९७ ॥

ज्वालामुख की ज्वाला में तड़प कर बेहोश हो जाता। जब कभी अपने लाडले बेटे निन्द्यवृत्त का साथ होता तो समाज में निन्दा का पात्र बनकर जिन्दा ही मर जाता ॥ ८९–९० ॥

इस तरह 'अस्थिर' अब हमेशा तकलीफ झेलने के लिए ही तैयार रहने लगा। स्वभाव से ही मेरी सखी और 'अस्थिर' की माँ बड़ी सरल और परम साध्वी थी। अपने बेटे से उसे अगाध प्रेम था। अतः उसके दुःख में वह भी उसी तरह दुःखी रहने लगी। धीरे-धीरे दोनों पोते 'ज्वालामुख' निन्द्यवृत्त' से भी उसका लगाव हो गया। फलतः उन दोनों के संसर्ग से जो उसे दाह और लोकनिन्दा मिली, उससे वह जिन्दा मुर्दा बनगई। और जहाँ तक मेरा सवाल है तो प्रियतम ! मैं तो सदा ही उसके अनुरूप थी। अतः उसके साथ ही मैं भी गायब हो गई ॥ ९१–९४ ॥

इस तरह कई साल तक मैं भी अपनी सहेली के दुःख से परम दुःखी रही और बिचारा 'अस्थिर' भी महाविनाश के जाल में फँसकर बिलकुल विवश हो गया ॥ ९५ ॥

जन्मार्जित किसी कर्म के फलस्वरूप एक दिन भटकते-भटकते वह एक नगर में पहुँच गया। उस नगर में दस द्वार थे। वहाँ वह अपने पाँचों बेटे, पत्नी महाशना और माँ के साथ रहने लगा। वहाँ उसे सुख खोजते हुए मिला दुःख और मिली विवशता ॥ ९६ ॥

अपने दो लाड़ले बेटे के बीच वह कभी इधर खिंचती सारी देह में जलन होती

इतस्ततः समाकृष्टः प्रियाभ्यां सर्वदा हि सः ।
पुत्राणां पञ्चभवनं प्रविशन् निविशन्नपि ॥ ९८ ॥
अत्यन्तं श्रान्तिमायाति न सुख लभते क्वचित् ।
एव पुत्रस्य दुःखेन सखी मेऽत्यन्तदुःखिता ॥ ९९ ॥
अभून्मूर्च्छितकल्पा सा एवं तत्पुर आवसत् ।
ज्वालामुखनिन्द्यवृत्तयुता या सा महाशना ॥ १०० ॥
शून्याख्यया पोषिता च मूढेन श्वशुरेण च ।
तथा सपत्न्या चपलाख्ययात्यन्त समेधिता ॥ १०१ ॥
अस्थिरं स्ववशे चक्रे पतिं तत्पुरसंस्थिता ।
सखीप्रीत्या तत्र चाहमवसं तत्परा सती ॥ १०२ ॥
सखीदुःखाद्धतप्राया सर्वेषां रक्षणोद्यता ।
यद्यहं तत्र न स्यां वै क्षणमात्रमपि प्रिय ॥ १०३ ॥
न भवेत्तत्र चैकोऽपि मया सर्वं हि रक्षितम् ।
शून्यया शून्यतां प्राप्ता मूढेन मूढतामपि ॥ १०४ ॥
अस्थिरेणास्थिरत्वञ्च चापल्यं चपलायुता ।
ज्वालामुखाज्ज्वलत्ताञ्च निन्द्यवृत्तात्तदात्मताम् ॥ १०५ ॥

और कभी उधर खिंचती तो लोकनिन्दा का सामना करना पड़ता। दूसरे बेटे के पाँच घरों में आते-जाते वह थककर चूर हो जाती। सुख तो उसे कभी नसीब नहीं होता ॥ ९७–९८ ॥

इस तरह बेटे के दुःख से दुःखी मेरी सहेली बेहोश हो जाती। महाशना ज्वालामुख और निन्द्यवृत्त नामक दोनों बेटे के साथ ही उस नगर में रहने लगी ॥ ९९–१०० ॥

शून्य नामक उसके मूढ ससुर ने तथा चपला नाम वाली सौत ने उसका जमकर पालन-पोषण किया ॥ १०१ ॥

उस नगर में रहते हुए उसने अपने पति 'अस्थिर' को पूरी तरह अपना वशवर्त्ती बना लिया। सहेली की प्रीति के कारण मैं भी उसके मुआफिक बनकर उसी जगह रही ॥ १०२ ॥

सहेली की मुसीबत देखकर मैं तो प्रायः मर-सी गई थी, फिर भी मैं उनके बचाव में लगी रहती थी। हे प्रियतम! यदि मैंने वहाँ एक पल भी नहीं रहती तो पता नहीं उनमें एक भी बचते या नहीं। मैंने ही उन सबों को बनाये रखा है ॥ १०३ ॥

शून्य अर्थात् अविद्या के साथ लगाव होने की वजह से मैं शून्य हो गई। मूढ़ के साथ लगाव होने से वैसा ही बन गई। 'अस्थिर' के साथ ताल्लुक रहने से मैं भी 'अस्थिर' हो गई। चपला की दोस्ती के कारण 'चपला' बन गई। ज्वालामुख से वास्ता रहने पर जलनशील बन गई। निन्द्यमुख से पाला पड़ने की वजह से मैं भी वैसी ही बन गई ॥ १०४–१०५ ॥

सखीसंयोगतश्चैवमभवन्तत् तदाकृतिः ।
सखीं यदि विमुञ्चामि सा नश्येत् क्षणमात्रतः ॥ १०६ ॥
मां सङ्गतेन तेषां वै समाहुर्व्यभिचारिणीम् ।
जना मूढा सर्व एव कुशला निर्मलां विदुः ॥ १०७ ॥
महासती मे जननी विशुद्धा निर्मलाकृतिः ।
आकाशादपि विस्तीर्णा सूक्ष्मा च परमाणुतः ॥ १०८ ॥
सर्वज्ञानाप्यकिञ्चिज्ज्ञा सर्वकर्त्र्यपि निष्क्रिया ।
सर्वाश्रयाप्यनाधारा सर्वाधाराप्यनाश्रिता ॥ १०९ ॥
सर्वरूपाप्यरूपा सा सर्वयुक्ताप्यसंयुता ।
सर्वत्र भासमानापि न ज्ञेया केनचित् क्वचित् ॥ ११० ॥
महानन्दाप्यनानन्दा मातापितृविवर्जिता ।
मादृश्यस्तनयास्तस्याः सन्ति सङ्ख्याविवर्जिताः ॥ १११ ॥
यथा तरङ्गा जलधेरसङ्ख्यः सोदरीगणः ।
सर्वास्ता मत्समाचारा राजपुत्र भवन्ति वै ॥ ११२ ॥
महामन्त्रवती चाहं सर्वैरेतैः सखीगणैः ।
सङ्गता तत्परा चापि मातृतुल्या स्वरूपतः ॥ ११३ ॥

इस तरह सहेली की आशनाई के कारण मुझे ये सारे रूप बदलने पड़े। यदि मैं सहेली को छोड़ देती तो वह एक पल भी नहीं बच पाती ॥ १०६ ॥

उनकी संगति के कारण बेवकूफ तो मुझे बदचलन कहने ही लगे थे, पर भले लोग मुझे बेदाग समझते थे ॥ १०७ ॥

मेरी माँ बड़ी पाक दामन औरत थी। बड़ी सच्ची और कलंक रहित थी। वह आकाश से भी बड़ी और परमाणु से भी छोटी थी ॥ १०८ ॥

वह सब कुछ जानकर भी अनजान थी। सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करती थीं। सबका सहारा होकर भी किसी का आसरा नहीं करती थी। सबका आधार होकर भी खुद निराधार थीं ॥ १०९ ॥

वह दुनिया की हर शकल में मौजूद है, फिर भी उसकी अपनी कोई सूरत नहीं है। वह सबके साथ मिलकर भी सबसे अलग है। वह हर जगह दिखाई देती है, फिर भी आज तक उसे कहीं किसी ने नहीं देखा ॥ ११० ॥

वह चरम आनन्द रूप होकर भी निरानन्द है। उसकी न कोई माँ है न कोई बाप। अलबत्ता मेरी तरह उनकी अनगिनत संतानें जरूर हैं ॥ १११ ॥

सागर की लहरों की तरह मेरी बेशुमार बहनें अवश्य हैं, राजकुमार ! वे मेरी ही तरह की चाल-चलन वाली हैं ॥ ११२ ॥

मुझमें मंत्र की बड़ी ताकत है। इसी से अपनी सहेलियों के साथ घुल-मिल कर रहने के बावजूद अपनी माँ के तौर पर बिलकुल बेदाग हूँ ॥ ११३ ॥

अस्मिन् पुरे सखीपुत्रो यदा श्रान्तो भवत्यलम् ।
तदा मातुः समुत्सङ्गेऽस्थिरः शेते सुनिर्भरम् ॥ ११४ ॥
अस्थिरस्तु यदा सुप्तस्तदा तस्य सुतादयः ।
स्वापं समधिगच्छन्ति नान्यो जागर्त्ति कश्चन ॥ ११५ ॥
तदा तद्रक्षति पुरमस्थिरस्य प्रियः सखा ।
प्रचाराख्यः प्रतिचरन् पूर्वद्वारयुगे मुहुः ॥ ११६ ॥
अस्थिरस्यापि या माता सखी मे तनयेन सा ।
तस्याः सखी च या श्वश्रूरसती या स्वभावतः ॥ ११७ ॥
सा समाच्छाद्य तान् सर्वान् पुत्रेण सह रक्षति ।
एवं सर्वेषु सुप्तेषु प्राप्य स्वां मातरं तदा ॥ ११८ ॥
आनन्दिताहं भवामि मात्राश्लिष्टा चिरं ननु ।
पुनस्तानुत्थितान् शीघ्रमनुसंयामि चान्वहम् ॥ ११९ ॥
अस्थिरस्य सखा योऽयं प्रचाराख्यो महाबलः ।
स सर्वानस्थिरमुखात् पोषयत्यनुवासरम् ॥ १२० ॥
स एको बहुधा भूत्वा पुरश्च पुरवासिनः ।
व्याप्य रक्षत्यनुदिनं सर्वान् संश्लेषयत्यपि ॥ १२१ ॥

इस नगर में घूमते-फिरते जब मेरी सहेली का बेटा 'अस्थिर' बिलकुल थक जाता है तो अपनी माँ की गोद में बेफिक्र होकर सो जाता है ॥ ११४ ॥

'अस्थिर' के सो जाने पर उसके सारे बेटे भी सो जाते हैं। फिर उस समय कोई भी जगा नहीं रहता ॥ ११५ ॥

'अस्थिर' के सो जाने पर उसके प्रिय मित्र 'प्रचार' पूरब के दोनों दरवाजों से आते-जाते इस नगर की रक्षा करते हैं ॥ ११६ ॥

जब अपने बेटे 'अस्थिर' के साथ मेरी सहेली भी गहरी नींद में सो जाती, तब इस हालत में उसकी सास, जो स्वभाव से बुरी तथा उसकी सहेली भी थी, उन्हें घेर कर उनकी रक्षा करती थीं ॥ ११७½ ॥

इस तरह जब सभी सो जाते, तब मैं अपनी माँ के पास लौट जाती। उसके गले लगकर बहुत समय तक खुशी में डूबी रहती थीं। फिर वे जब जग जाते तो मैं भी उनके साथ मिलकर वैसी ही बन जाती ॥ ११८–११९ ॥

'अस्थिर' का मित्र 'प्रचार' बहुत अधिक बाहुबली था। वही हर रोज सपरिवार उसका पोषण करता था ॥ १२० ॥

वह एक होकर भी अनेक रूपों में नागरिकों के बीच उनसे घुल-मिल कर उनकी रक्षा करता और उन्हें उनके अधिकार क्षेत्र तक पहुँचा देता था ॥ १२१ ॥

तं विना ते हि विश्लिष्टा नष्टाः स्युरपि सर्वथा ।
सूत्रेण हीना मणयो मालाबद्धा यथा पृथक् ॥ १२२ ॥
स एव माञ्च सङ्गम्य सर्वैः संयोजयेत् पुरम् ।
मया सञ्जीवितोऽत्यन्तं सूत्रधारो हि तत्पुरे ॥ १२३ ॥
जीर्णे तु तत्पुरे चान्यत् पुरं तान्नयति द्रुतम् ।
एवं प्रचारं संश्रित्य पुराणामधिपोऽभवत् ॥ १२४ ॥
बहूनामस्थिरो नूनं विचित्राणां क्रमेण वै ।
सतीपुत्रोऽप्यस्थिरः स संश्रितोऽपि महाबलम् ॥ १२५ ॥
मया च भावितोऽत्यन्तं सर्वथा दुःखभागभूत् ।
चपलामहाशनाभ्यां पत्नीभ्यां सुसमागमत् ॥ १२६ ॥
ज्वालामुखनिन्द्यवृत्ताभिधपुत्रयुगेन च ।
अन्यैः पुत्रैः पञ्चभिः स सर्वत्राभिविकर्षितः ॥ १२७ ॥
महाक्लेशपरीतात्मा सुखलेशविवर्जितः ।
इतस्ततः क्वचित् पुत्रैः पञ्चभिः स विकर्षितः ॥ १२८ ॥
क्वचिच्चपलयात्यन्तं चालितः खेदमीयिवान् ।
क्वचिन्महाशनाहेतोरशनार्थं प्रधावति ॥ १२९ ॥

उसके बिना वे बिलकुल अलग-अलग होकर बरबाद हो जाते, जैसे माला में पिरोये हुए मन के धागा न रहने पर बिखर जाते हैं ॥ १२२ ॥

उस नगर का प्रधान सूत्रधार 'प्रचार' ही है। वही मुझसे मिलकर सबको उस नगर से जोड़ता है। मुझसे अनुप्राणित होकर सबको प्रेरित करता है ॥ १२३ ॥

जब वह नगर बहुत पुराना हो जाता है, तब वही उन्हें नये नगर बहुत जल्द बसाता है। इस तरह 'प्रचार' का सहारा लेकर 'अस्थिर' अनेक नगरों का मालिक बन गया ॥ १२४½ ॥

'अस्थिर' एक साध्वी नारी का बेटा था। उसे 'प्रचार' जैसे बाहुबली का सहारा मिला था। मैं भी उसे बढ़ावा देती थी, फिर भी वह हर तरह से मुसीबत में था ॥ १२५½ ॥

चपला और महाशना नामक दो पत्नियों के बीच इसका समागम था। ज्वाला-मुख, निन्द्यवृत्त और अन्य पाँच बेटों के बीच खींचतान में वह पड़ा था ॥१२६-१२७॥

इससे उसका दिल दिन-रात दुःख में डूबा रहता। सुख तो उसे थोड़ा भी नसीब नहीं हुआ। पाँचों बेटे उसे कभी इधर घसीटते तो कभी उधर ॥ १२८ ॥

कभी चपला के कारण बहुत ज्यादे चंचल होकर दुःख झेलता तो कभी महाशना के कारण वह उसके उपभोग की वस्तु जुटाने में भागदौड़ करता रहता ॥ १२९ ॥

क्वचिज्ज्वालामुखाक्षिप्तो निर्दग्धापादमस्तकः ।
महामूर्च्छां समायाति चाविदंस्तत् प्रतिक्रियाम् ॥ १३० ॥
निन्द्यवृत्त क्वचित् प्राप्य गर्हितो भर्त्सितः परैः ।
मृततुल्यं स्वमात्मानं मन्यते शोकसन्ततः ॥ १३१ ॥
दुष्पत्नीपुत्रसहितो मोहितो दुष्कुलोद्भवः ।
पत्नीपुत्रैः समाक्रान्तो नीयमानस्तु तैः सदा ॥ १३२ ॥
उवास तैर्विचित्रेषु पुरेषूच्चावचेषु हि ।
क्वचित् कान्तारकीर्णेषु क्रव्यादाकुलभूमिषु ॥ १३३ ॥
क्वचिदत्यन्ततप्तेषु क्वचिच्छीतजडेषु च ।
क्वचित् पूतिवहास्थेषु क्वचिद् गाढतमःसु च ॥ १३४ ॥
एवं भूयोऽतिदुःखेन दुःखितं तनयेऽस्थिरे ।
सखी च मे दुःखमूढाऽभवद् दुःसङ्गता सदा ॥ १३५ ॥
स्वभावसत्यपि मुधा तामन्वहमपि प्रिय ।
मूढेवात्यन्तमभवं तत्कुटुम्बपरायणा ॥ १३६ ॥
को हि दुःसङ्गतः सौख्यं प्राप्नुयाल्लेशतः क्वचित् ।
गच्छन् मरुस्थले ग्रीष्मे तृष्णाशान्ति ययौ नरः ॥ १३७ ॥
एवं चिरतरे काले संवृत्ते मम सा सखी ।
मोहितात्यन्तखेदेन मया रहसि सङ्गता ॥ १३८ ॥

कभी-कभी ज्वालामुख की ला-इलाज लपट की चपेट में पड़कर सिर से पैर तक दहकते हुए वह बेहोश हो जाता ॥ १३० ॥

कभी जब उसे 'निन्द्यवृत्त' का साथ होता तो लोग उसकी निन्दा करते, उसे पैर-पैर पर अपमानित होना पड़ता, तब उसे लगता कि वह जिन्दा ही मर गया है ॥१३१॥

नीच खानदान में पैदा होनेवाला 'अस्थिर' अपनी कमीनी औरतों और बदमाश बेटों में लीन था। उनसे हमेशा घिरा रहता। वे जिधर चाहते इसे ले जाते। उनके साथ ही अनेक तरह के विचित्र छोटे-बड़े नगरों में निवास करते रहे ॥ १३२½ ॥

कभी दुर्भेद्य फैले हुए गहन वन में, तो कभी मांसभक्षी जानवरों से भरे जंगलों में कभी आग की तरह जलती धरती पर तो कभी ठंड से ठिठुरा देनेवाले क्षेत्र में, कभी गन्दी नालियों में तो कभी घोर अन्धेरे में भटकता रहा ॥ १३३–१३४ ॥

इस तरह कुसंगति में पडी मेरी सहेली अपने बेटे 'अस्थिर' को बहुत ज्यादे तकलीफ में तड़पते देखकर खुद भी हमेशा उस तकलीफ से बेसुध रहने लगी ॥१३५॥

हे प्रिय ! यद्यपि मैं स्वभाव से परम पवित्र थी फिर भी उसके परिवार की अनुगामिनी होने के कारण बे-वजह मैं भी काफी बेवकूफ बन गयी ॥ १३६ ॥

कुसंगति में पड़कर थोड़ा सुख भी किसे मिला है ? जेठ की जलती दुपहरिया में रेगिस्तान में चलते हुए किसकी प्यास बुझी है ? ॥ १३७ ॥

मदेकसङ्गाद्युक्तिं सा प्राप्यासाद्य च सत्पतिम् ।
जित्वा स्वतनयं हत्वा बद्ध्वा तत्तनयादिकान् ॥ १३९ ॥
मया सङ्गम्य मन्मातृपुरमासादयद् द्रुतम् ।
मन्मातरं परिष्वज्य मुहुर्मुहुरकल्मषा ॥ १४० ॥
आनन्दार्णवनिर्मग्नस्वभावाऽभवदञ्जसा ।
एवं त्वमपि दुर्वृत्तं निगृह्य सखिसम्भवम् ॥ १४१ ॥
प्राप्य स्वमातरं नाथ सुखं नित्यं समाप्नुहि ।
एतत्ते कथितं नाथ स्वानुभूतं सुखास्पदम् ॥ १४२ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने
बन्धाख्यायिका पञ्चमोऽध्यायः ।

इस तरह बहुत अरसे तक मेरी सहेली मुसीबतों से जूझते-जूझते जब थक गयी तब एक दिन एकान्त में मुझसे मिली ॥ १३८ ॥

मैंने उसे एक उपाय बतलाया । इससे उसे एक अच्छा पति मिला । इससे उसने अपने बेटे 'अस्थिर' को जीता । फिर इनकी सहायता से इन्हीं के बेटों में से कुछ को तो इसने मार ही डाला और कुछ को बाँध लिया ॥ १३९ ॥

मैंने उसे साथ दिया, अतः शीघ्र ही वह मेरी माँ की नगरी में आ गयी । यहाँ उसने मेरी माँ के गले लगकर अपने पापों को धो डाला ॥ १४० ॥

फिर तो सहज ही आनन्दसागर में गोता लगाना उसका स्वभाव बन गया । इसी तरह आप भी मेरी सहेली के बुरे बेटों को दमित कर अपनी माँ से मिलकर नित्य सुख पा सकते हैं । सुखस्थान का मैंने अनुभव किया है । उसी का मैंने वर्णन भी किया है ॥ १४१–१४२ ॥

विशेष — पंचम अध्याय की इस लौकिक कथा के माध्यम से अलौकिक दिव्य तत्त्व का अनुचिन्तन किया गया है । कथा के सभी पात्र प्रतीकात्मक (Auegorical) हैं । यद्यपि लौकिक कथा का प्रवाह सामान्य है फिर भी इसमें अन्तःसलिला फल्गु की धारा की तरह असामान्य गूढार्थप्रतिपादक तत्त्व है । प्रत्येक पात्र किसी-न-किसी तत्त्व के प्रतीक हैं । यथा —

जननी मे — हेमलेखा ने जिसे अपनी माँ कहा है --तत्त्व-विवेचन की दृष्टि से वह 'शुद्धचिति' है । सर्वोच्च व्यावहारिक आत्मभाव की उपलब्धि ही शुद्धचिति की प्रमुख विशेषता है । विवेकज्ञानपूर्वक परम वैराग्य-बल से शुद्धचिति के दर्शन होते हैं । ये अनुभूतिगम्य हैं ।

मे — 'मे' अस्मद् शब्द के षष्ठी एकवचन का रूप है । इसका प्रयोग हेमलेखा ने अपने लिए किया है, जो 'जीवात्मा' का प्रतीक है ।

क्रीडनाय सखीं ददौ — यहाँ 'सखी' 'बुद्धि' का प्रतीक है । जीवात्मा हमेशा बुद्धि

आशा में खेलती है। बुद्धि बड़ी चंचल है। इसकी संवेदना बड़ी सतही है। जैसे सागर की सतह पर उठी लहरों का न तो कोई स्थायित्व होता है और न कोई दृढ़ता। उनका तो बनना-मिटना चलता ही रहता है। सागर का अन्तःस्थल न तो उससे प्रभावित होता है और न परिवर्त्तित ही। ऐसी स्थिति है जीवात्मा के साथ बुद्धि की। बुद्धि और जीवात्मा की मैत्री कुछ इसी तरह की है। यही सम्बन्ध हेमलेखा का अपनी सहेली के साथ है।

असच्चरित्रयात्मन्वंसङ्गता—यहाँ हेमलेखा की सखी एक दुश्चरित्रा की संगति में पड़ गयी। 'दुश्चरित्रा' 'अविद्या' का प्रतीक है। हेमलेखा की सहेली एक दुश्चरित्रा की कुसंगति में पड़ गयी, इसका बोध उसकी माँ को नहीं है। क्योंकि अविद्या कब जीव की बुद्धि पर अपना अधिकार जमा लेती है, इसका बोध शुद्धचिति को भी नहीं होता है। अथवा तात्त्विक दृष्टि से शुद्धचिति का विषय न तो अविद्या है और न बुद्धि ही। क्योंकि उसकी दृष्टि में बुद्धि या अविद्या प्रपञ्च की सत्ता ही नहीं है। उसे तो वह केवल आभास मात्र मानती है। क्योंकि ये विजातीय तत्त्व हैं। उससे शुद्धचिति की सत्ता उद्घाटित नहीं, वरन् और आच्छादित ही होती है। उनका धुंध और धुंआ जितना गहरा होता है उतना ही स्वसत्ता में प्रवेश कठिन और दुर्गम हो जाता है। जो स्वयं को नहीं जानता वह शुद्धचिति की अनुभूति कैसे कर सकता है? सत्य की बौद्धिक विचारधारणा ऐसे ही है, जैसे कोई अन्धा व्यक्ति प्रकाश का चिन्तन करता हो। अतः शुद्धचिति का बुद्धि और अविद्या के संसर्ग से अनभिज्ञता स्वाभाविक है।

परोक्षवृत्तिमानीता स्वपुत्रेणाभियोजिता—परोक्ष पदार्थ का प्रलोभन देकर उस कुलटा ने उसे अपने बेटे के अधीन कर दिया। इसे ही 'मोह' कहा गया है। मोह भ्रमित बुद्धि का प्रतीक है। सहज स्फुरित स्वभाव के अभाव में जो जीवन है वह दिव्यता की ओर ले जाने में असमर्थ होता है, क्योंकि वह वस्तुतः सत्य नहीं है। क्योंकि उसके आधार किसी-न-किसी रूप से भय या प्रलोभन पर आधारित रहता है। फिर वह प्रलोभन लौकिक हो या पारलौकिक, मोह ही है। इसी से पतन का मार्ग प्रशस्त होता है।

तस्याः पुत्रोऽतिमूढात्मा—'मूढ' शब्द का यों तो कोषगत अर्थ है—जड़ीभूत, मोहित, उद्विग्न या व्याकुल, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से मूढात्मा' एक विवेच्य शब्द है। चित्तभूमि का यह एक स्वरूप है। चित्त की सहज या स्वाभाविक वृत्ति ही चित्त-भूमि है। ये चित्तभूमियाँ पाँच प्रकार की है—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इस दृष्टि से विचार करने पर 'मूढ' चित्त की दूसरी भूमि है। जो चित्त किसी इन्द्रिय-विषय में मुग्ध होने के कारण तत्त्वचिन्तन करने में अयोग्य हो जाता है, उसे ही मूढ कहा जाता है। यह चित्त मोहक विषय के प्रति सहज ही लीन हो जाता है। मूढ जन कामिनी-कांचन के अनुराग से इनके प्रति शीघ्र आकर्षित हो जाते हैं।

न मां जहौ—बलात्कार से सदैव धर्षित रहने के बावजूद मेरी सहेली मुझे नहीं

छोड़ती थी। इसका तात्पर्य यह है कि वह मोहग्रस्त थी और मोहाक्रान्त रहने पर भी बुद्धि के समस्त व्यापार और भोग चित्प्रकाश से ही प्रकाशित रहते हैं। जो बुद्धि चिरस्थायी है और जिसकी अपेक्षा कोई सूक्ष्मतर बुद्धि नहीं हो सकती तथा जो कभी अभिभूत नहीं हो सकती वही ज्ञानचिन्मय है।

तत्स्पृष्टा तेन चाप्यहम् — एक दिन हेममाला का भी उस मूढ से स्पर्श हो गया। यहाँ तात्पर्य यह है कि बुद्धि से तादात्म्य रहने के कारण जीवात्मा ने भी अपने को मोहग्रस्त मान लिया और वहाँ जीवात्मा एक विशिष्ट विश्वास की जंजीर में जकड़ जाता है। विचार विश्वास से बिलकुल विरोधी घटना है। विश्वास अचेतन है। उसमें जो चलता है वह मात्र जीता ही है, तात्त्विक जीवन को उपलब्ध नहीं होता। सही जीवन को उपलब्ध करने के लिए विश्वास की नहीं, विचार और विवेक की दिशा पकड़नी होती है।

ततः पुत्रः समुत्पन्नो — तदनन्तर उन दोनों के एक पुत्र हुआ। पुत्र का तात्पर्य यहाँ मन से है। 'पितुर्मौढ्येन संयुक्तः पितामह्या गुणेन च' —मन में अपने पिता मोह का गुण जड़ता और अपनी 'दादी' अविद्या का गुण विचित्र सृष्टिरचना रहती ही है।

पितामह्या शून्यनाम्ना — फिर शून्य नामक दादी मूढ नाम वाले पिता ने पुत्र 'अस्थिर' में अपना गुण भर कर कुशल बना दिया। यहाँ शून्य और 'अस्थिर' दोनों ही नाम प्रतीकात्मक है। वास्तव में शून्य से तात्पर्य 'अविद्या' से है। वास्तव में अविद्या की कोई सत्ता नहीं है। इसीलिए उसे शून्य कहा गया है। इसी अविद्या की कुसंगति में हेममाला की सहेली अपने निर्मल स्वभाव और सतीत्व के बावजूद मलिन हो गई। क्योंकि शुद्ध सत्त्वमयी होने पर भी अविद्या के अधीन होने पर रजोगुण एवं तमोगुण विशिष्ट बन गई। जहाँ तक अस्थिर' नामक पुत्र का प्रश्न है, यह भी प्रतीकात्मक ही नाम है। क्षिप्तभूमि चित्त को 'अस्थिर' कहा जाता है। क्षिप्तभूमिक और मूढभूमिक चित्त में क्रोध, लोभ और मोह का समावेश रहता है।

जिस 'अस्थिर' चित्त को समय-समय पर समाहित किया जा सकता है, उसे ही 'अस्थिर' या विक्षिप्त चित्त कहा जाता है। जिस समय स्थिरता का प्रादुर्भाव होता है, उस समय 'अस्थिर' दबा रहता है। पुराणों में अनेक समाहितचित्त ऋषियों के भ्रष्ट होने का जो वर्णन मिलता है, वह ऐसे ही अप्रधान विशेष की करामात है।

इसका एक उदाहरण ही पर्याप्त है। जागरित अवस्था का संस्कार ही स्वप्न होता है। जागरित अवस्था में यदि बहुत समय तक सहज ही चित्त एकाग्र रहे तो स्वप्न में भी वैसा ही रहेगा। एकाग्रता का लक्ष्य है ध्रुवास्मृति अथवा सर्वदा आत्मस्मृति। उसके संस्कार से स्वप्न में भी आत्मविस्मरण नहीं होता, केवल शारीरिक स्वभाव से ही इन्द्रियाँ जड़ बनी रहती हैं। एकाग्र चित्त की समाधि के चार कार्य हैं— सत्स्वरूप अर्थ का प्रकाश, क्लेशक्षय, कर्मबन्धनशैथिल्य और निरोधावस्था की समुपस्थिति।